ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रंथमाला, हिंदो ग्रन्थाङ्क—१९

संस्मरण

श्री० बनारसीदास चतुर्वेदी

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

संस्मरण-सूची

कविवर पं० श्रीधर पाठक

कविवर पं० श्रीधर पाठकजीका नाम बहुत दिनसे सुनता आ रहा था। मेरे पिताजी और वे साथ-साथ एक स्कूलमें पढ़े थे। इस बातपर अभिमान था कि पाठकजी हमारे ही नगर फीरोज़ाबाद परगनेके निवासी थे और हमारे ही स्कूलके एक पुराने छात्र! न जाने कितनी बार उनकी निम्न-लिखित पंक्तियोंको दुहराया था—

"सुरपुर और कश्मीर दोउनमें को है सुन्दर,
को सोभाको भौन रूपको कौन समुन्दर?
काकौं उपमा उचित दैन दोउनमें काकी,
याकौं सुरपुरकी अथवा सुरपुरकौं याकी?
याकौं उपमा याहीकी मोहि देत सुहावै,
या सम दूजौ ठौर सृष्टिमें दृष्टि न आवै।
यही स्वर्ग सुरलोक, यही सुर-कानन सुन्दर,
यहि अमरनकौ ओक, यहीं कहुँ बसत पुरन्दर।"

उनकी और भी अनेक पंक्तियाँ कंठाग्र थीं। यद्यपि पाठकजीके दर्शन करनेका सौभाग्य सन् १९१५ में फ़ीरोज़ाबादमें ही प्राप्त हो चुका था, जब कि वे प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके सभापतिकी हैसियतसे वहाँ पधारे थे, पर उनके निकट सम्पर्कमें आनेका सुअवसर अभी तक नहीं मिला था। इसलिए उनके ४।५।२० के पत्रके निम्न-लिखित अंश पढ़कर और यह सोचकर कि बहुत दिनोंकी अभिलाषा अब पूर्ण होगी, हार्दिक हर्ष हुआ—

"आप अपने आनेका वचन पूरा कीजियेगा अवश्य और अवश्य अपने ही स्थान (पद्मकोट) पर ठहरिएगा। मैं जानता हूँ, यहाँपर कुछ चतु-

वैंदियोंके घर हैं, और आपके शायद कोई नातेदार भी होंगे, परन्तु हमारा आपका गाँवका नाता उन सबसे ज़बर्दस्त है, उसे उपेक्षित न कीजियेगा। जोंधरी और 'पिरोजाबाद' को न भूलियेगा।

स्नेहाकृष्ट—श्री० पा०।"

मई सन् १९२० में पाठकजीकी सेवामें उपस्थित हुआ और लगभग दो सप्ताह तक पद्मकोटमें स्थित पद्मकुटीरमें रहा। इस बीचमें बीसियों बार उनसे बातचीत करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ और अनेक विषयोंपर उनके विचार जाननेका अवसर भी मिला। पाठकजीकी कविताके अतिरिक्त जिन बातोंका मुझपर अधिक प्रभाव पड़ा, वे थीं उनकी सुरुचि, सुप्रबन्ध-शक्ति और सौन्दर्य-प्रेम। उनकी पद्मकोट नामक कोठी उक्त तीनों चीज़ोंके सम्मिश्रणका परिणाम थी। आज लूकरगंज रोडपरसे जाते हुए यात्रीको उनके उस उद्यानमें कूड़े-करकटके ढेर पड़े हुए यदि दीख पड़ें, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं, पर स्वर्गीय पाठकजीकी विद्यमानतामें यह असम्भव था। जिस प्रकार अपनी कविताके पदोंमें काट-छाँट और संशोधन वे अन्तिम समय तक करते रहते थे, उसी प्रकार अपने उद्यानके वृक्षोंको भी सुसज्जित रखनेकी उन्हें निरन्तर चिन्ता रहती थी। नवीन आगन्तुकोंको वे बड़े प्रेमके साथ अपने उद्यानके वृक्ष दिखलाते थे। स्वयं मैंने ये वृक्ष उनके उपवनमें देखे थे—

अनार, अमरूद, अमलताश, अशोक, आँवला, आम, कचनार, कट-हल, कमरख, करौंदा, कुन्द (दो तरहके), केना, केला, क्रोटन, खिन्नी, गुड़हर, गुलाब, (पाँच-छैः तरहके), गुलाबकी लता, चमेली, जुही, डाइ-टिनाकी बाड़, ताड़, नीबू, फालसा, बड़हर, बड़ी लिली बेंत, बेला, मिट्ठा, मौलिश्री, रायल-केन, रेलिया (पाँचप्रकारके), लीची, शरीफ़ा, शहतूत, सुदर्शन, सेंजना और स्थल-कमल।

वास्तवमें पद्मकोट पाठकजीकी सर्वोत्तम कृतियोंमेंसे है, बल्कि यों कहना चाहिए कि यदि वे अपने जीवनमें केवल काश्मीर-सुखमा और

पद्मकोटकी ही रचना करते, तब भी वे कविता तथा सौन्दर्यके प्रेमियोंके लिए चिरस्मरणीय हो जाते।

उस समय पाठकजीकी बातें सुनना हिन्दीके ४० वर्ष (१८८०-१९२०) के इतिहासका अध्ययन करना था। पाठकजीने अपनी बाल्या-वस्थाकी बहुत-सी बातें सुनाईं। सन् १८७४ की बात है। पाठकजीके हिन्दी-स्कूल कोटलामें इन्सपेक्टर लायड साहब वार्षिक परीक्षा लेने आये। ऊँची दफ़ाओंके लड़कोंको पढ़नेके लिए खड़ा किया गया। पाठकजी नीची दफ़ामें थे, पर उनको सब डिप्टी इन्सपेक्टरने ऊँची दफ़ाके साथ पढ़नेको खड़ा कर दिया। उनके पढ़नेकी बारी आई, तो उन्होंने भूगोलकी पुस्तक-मेंसे, जो थोड़ी देर पहले ही उन्हें पारितोषिकमें मिली थी, पढ़ा—"दाबह चज उस धरतीका नाम है, जो चिनाव और झेलमके बीचमें है।"

साहब—"इसका मतलब कह सकता है?"

पाठकजी—"चिनाव कौ च लयौ और झेलमको ज लयौ—चज बनि गयौ।"

साहबने मुँहमें उंगली दी। डिप्डी इन्सपेक्टर, सब डिप्टी इन्सपेक्टर, मुदरिस, विद्यार्थी तथा दर्शकगण चकित हुए और ग्राम तथा ज़िले-भरके मुदर्रिसी आसमानमें एक शोर मच गया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाठकजीने इस पुस्तकको पहले कभी नहीं पढ़ा था और न इस दोआबका नाम ही कहीं सुना था।

पाठकजी अपने गुरु पूज्य पं० जयरामजीका नाम बड़े सम्मानके साथ लेते थे। मैंने उनसे प्रार्थना की कि आप पं० जयरामजीके विषयमें मुझे कुछ लिखा दीजिए। उन्होंने कहा—"अच्छा, लिखो", और निम्नलिखित पंक्तियाँ बोलकर लिखाईं—

"पूज्य पं० जयरामजी उन हिन्दुस्तानी ग्रामीण सज्जनोंके नमूना थे, जिनके कारण ग्राम्यसमाज अपना गौरव-युक्त स्थान सुरक्षित किए हुए

है। उनमें वे सब गुण थे, जो एक साधारण मनुष्यको सच्चे मनुष्यत्वकी पदवी प्रदान करते हैं। सबसे प्रथम उनके गुणोंमें गणनीय उनका स्वास्थ्य था। उनका भव्य मुखमंडल—जिसमें बुद्धिकी तीव्रता, सात्विक भाव-व्यंजक मस्तककी विशालता, आन्तरिक महत्त्व प्रदर्शक नेत्रोंकी तेजस्विता, गौरवर्णकी समुज्ज्वलतासहित अपनी-अपनी सत्ताका स्वतन्त्र रीतिसे साक्ष्य देती थीं—उनके मित्र और शिष्यवर्गके हृदयपर शाश्वत प्रभाव उत्पन्न करनेकी शक्ति रखता था। वे सब प्रकारकी सहनशीलताकी मूर्ति थे। मुझको उनमें कोई भी अवगुण दृष्टि नहीं आता था। वे प्रायः अपने सिरको एक सफ़ेद रंगकी बड़ी पगड़ीसे विभूषित रखते थे, लम्बा अंगा पहनते थे और जहाँ वह जा निकलते थे, प्रतिष्ठित गौरवका रूप बँध जाता था। जो उनको देखता था, रौबमें आ जाता था और उनकी इज्ज़त करता था। एक दफ़ा पंडितजीकी आगरा-कालेज बोर्डिंगहाउसमें वहाँके सुपरिण्टेण्डेण्ट मास्टर सालिगरामसे मुलाक़ात हुई। मास्टरजीके पूछनेपर कि आप कब तशरीफ़ लाये, उन्होंने जवाब दिया—'हूँ सा'ब, चारि बजेकी गाड़ी पै आयो हो।' वे अधिकतर ऐसी ही ग्राम्यभाषाका व्यवहार किया करते थे, और वह उनके मुखसे एक विशेष महत्त्व और रुचिरता लिए हुए श्रवणोंको आनन्द देती थी।"

यह बात ध्यान देने योग्य है कि पं० जयरामजीने ही पाठकजीको अपनी पढ़ाई जारी रखनेके लिए उत्साहित किया था। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि श्रीधरजी तहसीली स्कूलमें पढ़नेके लिए नहीं आ रहे हैं, तो वे स्वयं पाठकजीको लेनेके लिए उनके ग्रामपर गये! जोंधरी पहुँचकर उन्होंने पाठकजीसे भाषाभास्करमें से अनेक प्रश्न किये, जिनके उत्तर यथा-रीति ठीक-ठीक उन्हें मिले। फिर कुछ रेखागणित आदिमें भी पूछा। श्रीधरजीको रेखागणितमें बड़ी दिलचस्पी थी, उन्होंने उन प्रश्नोंका उत्तर भी बड़ी सफलताके साथ दिया। तब पं० जयरामजीने अपने आनेका प्रयोजन प्रकट किया। श्रीधरजीको यह जानकर कि अब एक बड़े मदरसेमें

पढ़ने और एक शहरमें रहनेका अवसर मिलेगा, हार्दिक प्रसन्नता हुई। श्रीधरजी तहसीली स्कूलमें जाकर पढ़े और परीक्षामें सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर प्रदेशमें उनका नम्बर प्रथम आया।

आज कितने शिक्षक हमारे यहाँ इस प्रकारके हैं, जो योग्य छात्रोंको इस प्रकार तलाश करके अपने विद्यालयमें लावें ?

पद्मकुटीरमें रहते हुए 'हिन्दी-प्रदीप' के पुराने अंक भी देखनेको मिले, जिनमें पाठकजीके लिखे हुए नाना प्रकारके हास्यरसपूर्ण लेख थे। दिसम्बर १८८४ क अंकमें उन्होंने एक औषधि लिखी थी, उसे सुन लीजिए—

"बीमार हिन्दके लिए सिहतावर जोशाँदा :

फूटके कड़ुवे दाने	**३ माशे**
तुख़म कुढंग	**१ तोला**
जिद्द और काहिलीकी सूखी फली	**२ तोला**
रोग़न फ़साद	**९ माशे**
गुल गुलामी	**३ माशे**
मग़ज़ पंडिताई	**३ तोला**

इन सब दवाइयोंको कूट-पीस कपरछन कर ५ सेर काले पानीमें चढ़ा दो, जब पानी जलते-जलते छँटाक रह जाय, तब सेर-भर बर्फ़ और सोडा-वाटरमें मिलाय मियाँ हिन्दको पिलादो और नीचे लिखा मरहम उनके बदनभरमें पोत दो, तो ज़रूर सब नसूर फ़ौरन् दूर हो घावोंको पुरा देगा।

मरहम

विलायती कुतियाकी ज़बान
अंग्रेज़ी लियाक़तका तेल
लाल समुद्रका पानी
काले आदमियोंकी मोमियाई।

यक़ीन कामिल रखो, इन दो दवाइयोंसे हज़रत हिन्दुस्तानको ज़रूर आराम हो, इस बुढ़ापेमें भी एक बार फिर पहलेके-से हट्टे-कट्टे संड-मुसंड हो उठेंगे।

हकीम—पस्त दिल, शिकस्त अक़िल—ख़फ़गान—लुकमान।"

जुलाई १८८५ के 'हिन्दी-प्रदीपमें' उन्होंने एक गद्यपद्यमय निबन्ध लिखा था, वह भी पढ़ने लायक़ है—

"आता है

आता है—अच्छा साहब, क्या आता है—सच जानिये, हमें तो कुछ नहीं आता, जो आपको बतला सकें कि कहाँ-कहाँ क्या-क्या आता है—हाँ, इतना अलबत्ता कह सकते हैं कि आजकल गर्मी ख़ूब पड़ रही है, सो सभीके बदनमें पसीना आता है, जिससे जी ऐसा उकताता और घबराता है कि कुछ कहते नहीं बन आता—वरन् कभी-कभी तो जीमें ऐसा पागलपन समा जाता है कि ख़यालके टट्टू को नैनीताल ही की तरफ़ भगा ले जाता है, और जब उस सर्दिस्तानमें पहुँच जाता है, तभी चैन आता है। ख़ैर, ज्यों-ज्यों गर्मी बीती वर्षा आई, अब गगनमें भ्रमण करती हुई सघन-वन-उपवन विहारिणी, मनोहारिणी हरियालीकी डहडही छविकी छटा देख वियोगीजन सावधान हो जाओ—

नाना कृपाण निजपाणि लिये, बपु नील बसन परिधान किये,
गम्भीर घोर अभियान हिये, छकि पारिजात मधुपान किये,
छिन-छिन निज जोर मरोर दिखावत
पल पलपर आकृति कोर झुकावत
बन राह बाट श्यामता बढ़ावत
वैधव्य बाल वामता बढ़ावत
यह मोर नचावत शोर मचावत
स्वेत-स्वेत बगपाँति उड़ावत

शीतल-सुगन्ध सुन्दर अमन्द नन्दन प्रसून मकरन्द बिन्दु मिश्रित
समीर बिन धीर चलावत
अन्धयारि रात हाथ न दिखात, बिन नाथ बाल-विधवा डरात
तिनके मन-मन्दिर आग लगावत
छिन गर्ज-गर्ज पुनि लर्ज-लर्ज निज सेन सिखावत, तर्ज-तर्ज
दुन्दुभी धरणि आकाश लचावत
मल्लार राग गावत बिहाग रसप्रेम पाग अहो धन्यभाग
सुख पावत मेह महावत आवत।

हे विरहिनी-जन ! चेत करो, धीर धरो—'उड़ाता ख़ाक सिरपर झूमता (मेघ) मस्ताना आता है।' हे मयूरी, तुम्हारी—आर्त घोषणा श्रवणकर मेघ महाराणा चला आता है।

छलकता बेधड़क यह बारिशे दीवाना आता है।
सुनाया हमने इतना आपको लिख करके मुशफ़िक़ आज
यक़ीं है अब तो समझोगे हमें कुछ भी तो आता है।"

इस प्रकारके और भी बीसियों मनोरंजक लेख पाठकजीने 'हिन्दी-प्रदीप'में लिखे थे, जिनमें कितने ही तो उनके नामके बिना ही छपे थे।

पाठकजीसे नित्यप्रति काफ़ी देर तक बातचीत हुआ करती थी। उन बातोंके संक्षिप्त नोट मैंने अपनी नोटबुकमें ले लिये थे। पाठकजीने कहा—"किसी-किसीका कहना है कि बाबू मैथिलीशरण गुप्त अच्छे कवि नहीं हैं, लेकिन मेरी समझमें तो वे अत्युत्तम कवि हैं। वे ग्राम्यभाषाका प्रयोग नहीं करते और उनकी कोमलकान्त पदावली मनोहारिणी होती है।" एक भारतीय आत्मा (श्री माखनलाल चतुर्वेदी) की कविताके 'निराले ढंग'को भी उन्होंने बहुत पसन्द किया था। मैंने पाठकजीको माखनलालजीकी यह कविता सुनाई, जो उन्होंने कविरत्न सत्यनारायणके स्वर्गवासके विषयमें लिखी थी—

"यह कोमल काकली कलित-सी सीखी वृन्दाविपिन निवेश
मस्त कान्हको कर-कर देती हर-हर लेती हृदय प्रदेश।

राष्ट्र भारतीके उपवनमें होती रहती थी वह कूक,
कर-कर दिये क्रूरताओंके उसने सदा करोड़ों टूक।
वह कोकिल उड़ गया, गया--वह गया--कृष्ण दौड़ो आओ !
वनदेवीका धन लौटा दो सच्चे नारायण आओ !'

इस कविताको पाठकजीने बहुत पसन्द किया, लेकिन चतुर्वेदीजीकी 'लो आया' शीर्षक कविताको हम दोनोंमेंसे कोई भी नहीं समझ सका ! खेद है कि मेरे पास उन दिनों उनकी 'हृदय' शीर्षक कविता नहीं थी। मुझे विश्वास है कि पाठकजी उसे बहुत पसन्द करते। सत्यनारायणजीकी 'ग्रीष्म-गरिमा' मैंने उन्हें सुनाई और उसे भी उन्होंने खूब पसन्द किया और बोले--'सत्यनारायणकी कविता जैसी उनके मुखसे अच्छी लगती थी, वैसी अन्य किसीके मुखसे नहीं।" पर सत्यनारायणजीके उपालम्भ उन्हें नापसन्द थे। वे कहते थे कि परमात्मासे बार-बार शिकायत करना ठीक नहीं--'भीरुभोग्या वसुन्धरा नहीं है।'

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसादजी पूर्ण, बालमुकुन्दजी गुप्त, जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी इत्यादिकी कुछ-न-कुछ चर्चा नित्य ही चला करती थी। पिछले दिनोंमें पाठकजी और द्विवेदीजीमें कुछ मतभेद-सा हो गया था। आपसका पत्रव्यवहार भी बहुत दिनोंसे बन्द था। जहाँ पाठकजीमें अनेक गुण थे, वहाँ उनके स्वभावमें कुछ त्रुटि भी थी। वे कुछ शंकाशील थे, और सनककी मात्रा भी उनमें पाई जाती थी। सम्भवतः इसी कारणसे उनका अन्य सज्जनोंसे कभी-कभी मनमुटाव भी हो जाता था। एक बार बाबू बालमुकुन्द गुप्तने उनको एक अच्छी चिट्ठी लिखी थी, जिससे गुप्तजी तथा पाठकजी दोनोंके स्वभावपर प्रकाश पड़ता है। वह पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है—

The 'Bharat Mitra" Office 97 Mukhtaram Babus'
St. Established 1878 Calcutta, 26. 11. 1900
Telephone No. 137

पूज्यवर,

प्रणाम।

मेरी सालाना खाँसी मुझे फिर तंग कर रही है, इसीसे आपके १५ नवम्बरके कार्डका उत्तर झटपट न दे सका। इसके सिवाय उत्तरके देनेमें कुछ दुःख होता है, इससे भी देर की।

बिना मूल्य और मूल्यकी कुछ बात नहीं है। वह सब आपकी इच्छापर ही है। आपने मूल्य भेजा था, हमने वापिस भी नहीं किया। सुनिये--आप पत्र (भारतमित्र) न पढ़ेंगे, तो इसमें आपकी कुछ हानि नहीं है, परन्तु लाभ भी नहीं है। इसी प्रकार 'भारतमित्र'की हानि नहीं, पर लाभ भी नहीं, परन्तु बालमुकुन्द गुप्तकी हानि है, सो सुनिये--

मैं समझता हूँ कि आपमें एक उत्तम कविताशक्ति है, और वह ऐसी है कि जिससे आगेको हमारी कविताका कुछ भला हो सकता है। इसीसे पुत्तनलाल पटनेवाला जब आपकी कविताको अलंकृत कर रहा था, तो मुझे उसकी खबर लेनी पड़ी, तथा आपको भी सूचना देनी पड़ी। उसका फल यह हुआ कि आपने कई एक कविताएँ अच्छी लिख डालीं, जिनमेंसे 'घन-विनय' एक विचित्र ही कविता है।

दुःख यही है कि बीच-ही-बीचमें लिखा-पढ़ी आ पड़ी, उससे आपका जी मुझसे नाराज़ हो गया। उसीका यह फल है कि आप 'भारतमित्र' से नाता तोड़ते हैं। क्या ही अच्छा होता यदि आप केवल कविता लिखते और आलोचना करनेवालोंकी बातका बुरा-भला न मानते! आपको उत्तर देनेकी क्या जरूरत है, जब कि आपकी उत्तम कविता आपसे आप लोगोंको मोहित कर लेती है?

आप कभी-कभी इँचे जाते हैं कि आपकी कविताका वह मूल्य नहीं, जो विलायत आदिमें अच्छे-अच्छे कवियोंकी कविताका है, परन्तु इस देशकी गिरी दशाको तो देखिये, कि कोई खाली भी आपसे कविता लिखनेको नहीं कहता। एक मैं ही हूँ कि आपसे कविता लिखनेका अनुरोध करता

हूं । आप निश्चय जानिये कि इसमें मेरा एक माशा भी स्वार्थ नहीं है । मैं तो यही चाहता हूँ कि भगवान्ने आप जैसी तबियतका एक कवि उत्पन्न किया है, तो उसकी कविताका कुछ विकास भी हो, यों ही न कुम्हिला जावे । यदि आप कुछ लिख जावेंगे, तो दो सौ वर्ष बाद शायद आपके नामकी पूजा तक हो सकती है ।

एक 'भारतमित्र'के नातेसे आपसे पत्र-व्यवहार चलता है । यह नाता आप तोड़ते है, भगवान् जाने अबकी टूटी फिर कब जुड़े । कोई आठ साल बाद आपसे फिर पत्र-व्यवहार चला था, अब बन्द होकर न जाने कब खुले ! मैं नहीं जानता, कि अब आप पत्र-व्यवहार करेंगे या नहीं । इससे कुछ विनय करता हूँ ।

(१) हर बातमें शंकित और उदास मत हुआ कीजिए ।
(२) कोई कुछ आलोचना करे, तो उसकी परवाह मत कीजिए ।
(३) आलोचकोंकी फ़िज़ूल बातोंके उत्तरकी ज़रूरत नहीं है ।
(४) चित्तको हर मामलेमें प्रसन्न रखिए—बात-बातमें नाराज़ी और चिढ़ भली नहीं ।
(५) आपका काम सुन्दर कविता बनाना है—छेड़-छाड़ का उत्तर देना नहीं ।
(६) दासों और मित्रोंपर विश्वास रखना ।
(७) जब तक जीवन है, जीना पड़ेगा । सो प्रसन्नतासे जीना चाहिए । उदासी क्यों ?

दास
बालमुकुन्द गुप्त ।

द्विवेदीजीसे पाठकजीका पत्र-व्यवहार प्रायः अंग्रेज़ीमें हुआ करता था । शिमलासे ३०।८।०३ को लिखी हुई पाठकजीकी एक चिट्ठीका कुछ अंश सुन लीजिए—

Simla

My dear Dwivediji, 30-8-03

As I enter my 'Study' on return from a random stroll in the hills, my eye catches the sweet sight of a fresh post cover purporting to be from my Jhansi friend awaiting me. I tear it in pleasing haste and lo and behold ! I have digested its crisp contents in no time.

Right welcome to your very sensible observation on the very 'sensitive' slip of paper used by me in writing my last epistle to you. Sensitiveness seems to have taken wings from Simla to Jhansi and leaps from Jhansi to Simla. The other half of the sheet which you so sensitively miss is however still adorning my pad to tell its own simple innocent tale. I give below extracts from its scribbled contents which may perhaps serve to cure the contagion of sensitiveness in either of us, to some extent at least.

अर्थात्

शिमला

३०–८–०३

प्रिय द्विवेदीजी,

संयोगसे पहाड़ियोंमें घूमने चला गया था। लौटकर अपने अध्ययन-के कमरेमें पैर रखते ही डाकसे ताज़े आये एक लिफ़ाफ़ेका मधुर दृश्य मेरे नेत्रोंके सम्मुख उपस्थित हो जाता है, जो मेरे झाँसीके मित्रके यहाँसे

आनेका भाव प्रकट करता हुआ मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। ख़ुशीकी जल्दी-में मैं उसे फाड़ता हूँ और यह देखिये! मैंने तुरंत ही उस मनोहर पत्र-को हृदयंगम कर लिया।

स्वागत है आपके बुद्धिमत्तापूर्ण उद्गारोंका जो आपने बहुत कोमल काग़ज़के टुकड़ेपर प्रकट किये थे, जिसे मैं अपना पिछला पत्र लिखते समय काममें लाया था। मालूम होता है कोमलता शिमलासे झाँसी उड़ गई है और झाँसीसे शिमलाकी ओर फुदक रही है। उस काग़ज़का दूसरा अर्द्धभाग, जिसकी अनुपस्थिति आपको इतनी कोमलताके साथ खल रही है, अभी अपनी सरल और भोली-भाली कहानी सुनानेके लिए मेरे पैड की शोभा बढ़ा रहा है। इसके घसीटे हुए वाक्योंसे उद्धरण नीचे दे रहा हूँ। वे कदाचित् हम दोनोंको लगी कोमलताकी छूतको दूर करनेमें कारगर हो सकते हैं, किसी हदतक ही सही।

इसके बाद पाठकजीने अपनी एक अंग्रेज़ी कविताका एक अंश उद्-धृत किया था—

"Would I here on these old Himadri's peaks
Where to the groaning winds stern thunder speaks;
And Heaven's orbs are longest lost in gloom
And nothing reigns but vapour, blast and bloom.
There on some cloud clad cliff or cosy crest
Could I find calm and contemplative rest"—

× × ×

अन्तिम पंक्तियाँ ये थीं—

"Trust this stray scrip you'll dearly care to keep
For future sight with feelings true and deep.
Here in frail Fancy frisks in raptures free
And poetry seems gone on drunken spree
Dear, as I pen this, Heaven speaks & pours!

Ev'n as close this. Ever sincere yours.

पत्रके अन्तमें था—

Yours very sensitively."

रायदेवीप्रसादजीका ज़िक्र करते हुए पाठकजीने कहा—"हम दोनोंमें छन्दशास्त्रके अध्ययनकी आवश्यकताके विषयपर बहुत कुछ वाद-विवाद हुआ था। मेरा यह पक्ष था कि कविके लिए यह आवश्यक नही है कि वह छन्दशास्त्रके विस्तृत नियमोंको पढ़े। कविता पहले आती है, छन्द-शास्त्र पीछे। राय साहबका मत मेरे विरुद्ध था, और हम दोनोंमें काफी गरम बहस हुई थी।"

पाठकजी बाबू बालमुकुन्द गुप्तजीके हँसोड़ स्वभावकी प्रशंसा करते थे। वे कहते थे—"एक बार गुप्तजीने पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीको एक पत्र भेजा था, जिसका प्रारम्भ इस प्रकार था—

"जगन्नाथ चौपाया,

पत्र आपका आया मन भाया। इत्यादि।"

पाठकजीको पूरा पद्य याद नहीं था। स्वर्गीय पं० बालकृष्ण भट्टका भी ज़िक्र पाठकजी बड़े प्रेम और श्रद्धापूर्वक करते थे। भट्टजीका और उनका सम्बन्ध कितना घनिष्ठ था, यह बात पाठकजीने अपनी 'गोपिका गीत' नामक पुस्तककी 'समुपस्थिति' में लिखी थी—

"स्वर्गीय भट्टजी !

हम आपके संसर्गसे आपके साथ इतने ढीठ हो गये थे कि जब आपसे मिलते थे, 'प्रोनाम, भट्टो जि', 'का हो भड्जी ?' आदि अनेक विनोदात्मक सम्बोधनोंसे आपका अभिवन्दन करते थे, और आप आशीर्वाद देते थे— 'तुमरे मूड़ै आग लगै, निबहुरियऊ !' (मेरी समझमें इसका भाव— यह है कि 'जन्म-मरणादि भव-बन्धनसे विमुक्त हो') और यह स्निग्ध संलाप हमें इतना प्रिय था कि हम उसके पुनः पुनरभिनय-निमित्त आपके निकट दौड़-दौड़के पहुँचते थे। आपके सत्संग-प्रसूत इस प्रकारके अग-

२

णित वाग्विनोद इन कानोंके गहन गह्वरोंमें पुनः-पुनः प्रतिध्वनित होते रहते हैं।"

पाठकजीका पत्र-व्यवहार हिन्दीके अनेक प्रसिद्ध लेखकों तथा कवियोंसे रहा था और उसका कुछ अंश उन्होंने सुरक्षित भी रखा था। सुप्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी अंग्रेज़ फ्रेडरिक पिंकाट साहबकी अनेक चिट्ठियाँ उनके पास थीं। १० मई सन् १८८८ के पत्रमें मि० पिंकाटने पाठकजीको उनकी 'एकान्तवासी योगी' नामक पुस्तकके विषयमें लिखा था—

"I have already expressed to Lala Ayodhya Prasad and I now repeat to you that in my opinion your translation is a triumph of skill. It is rare even in prose, that so faithful a rendering is seen, in the case of languages so widely different as English and Hindi; but in verse such close adherence to an original while preserving fluency and poetic sweetness, is exceedingly rare indeed. Your verses, I trust, will direct the Indian mind to the beauties of nature and to the tender feelings of the heart. Extravagance of language and artificiality of sentiment characterize and disfigure Oriental verse; but such excellent verses as yours will draw the hearts of your people to the satisfying joys of simplicity and devoted affection."

अर्थात्

"मैं लाला अयोध्याप्रसादके सम्मुख अपना विचार प्रकट कर चुका हूँ और उसीको अब आपको दुहरा रहा हूँ कि मेरे विचारमें आपके अनुवादोंमें उच्चकोटिका कौशल है। अंग्रेज़ी और हिन्दी—जैसी विस्तृत विभेद रखने-

वाली भाषाओंमें गद्यमें भी ऐसे स्वाभाविक अनुवाद कदाचित् ही देखनेमें आते हैं, किन्तु पद्यमें प्रवाह और काव्यमाधुर्यकी सुरक्षा करते हुए मौलिक वस्तुका ऐसा अन्तर्स्पर्श तो यथार्थमें दुर्लभ है। मुझे विश्वास है, कि आपके पद्य भारतीय मस्तिष्कको प्राकृतिक सौन्दर्य और हृदयकी कोमल संवेदनाओंकी ओर प्रेरित करेंगे। शब्दाडम्बर तथा कृत्रिम भावुकता प्राच्य पद्यके विशिष्ठ लक्षणमें आकर उसके सौन्दर्यको बिगाड़ देती हैं, किन्तु ऐसे उत्कृष्ट पद्य, जैसे आपके हैं, आपके देशकी जनताके हृदयको सरलभाव-व्यंजना और आत्मोत्सर्गपूर्ण स्नेहके आनन्दका अनुभव कराएँगे।"

प्रोफेसर जे० एफ० निकल साहबने (Mr. J. F. Nicholl, M. A. Professor Balliol College, Oxford) मि० पिंकाटको पाठकजीके 'ऊजड़ गाम' के विषयमेंजो हिन्दी पत्र भेजा था, वह ज्यों-का-त्यों उद्धृत करने लायक है—

"श्रीयुक्त पिंकोट साहेब समीपेषू !

प्रणामानन्तर प्रकाश करता हूँ कि आज साँझके समय आपका कृपा-पत्र पहुँचा। उसीके साथ आपने एक पोथी भेजी है। इससे मैं समझ सकता हूँ कि अन्य देशीय विद्यानुरागी भी इंग्रेजी कवियोंको कैसा प्रिय जानते हैं। पंडितजीने अपनी पोथीका नाम 'ऊजड़ गाम' रखा। परन्तु निश्चय यह है कि लिखते समय उनका मन मक्खीके समान अपने मधुमें ऐसा लिपट गया कि अक्षरोंका विन्यास भूल गये। उसका नाम "जड़ाऊ मग" रखना चाहिए, क्योंकि उस पोथीकी बाटें मणिमाणिक्यसे जड़ित होती हैं। बस, वाटकी बात चलाते ही क्या देखता हूँ एक वाटिका फूलती है। उस वाटिकाकी वाटोंकी दोनों ओरकी क्यारियोंकी शोभा देखता हुआ चला जाता हूँ। मक्खीके समान एक फूलसे दूसरे फूलपर बैठता उसका रस लेता हूँ। उसी वाटिकाके वृक्ष अमृतफलसे लदे हैं, केवल मुख खोलनेका कष्ट है, फल आपसे आप मुखमें चले आते हैं। ईश्वरकी शक्ति कैसी है। जो मैं शेषनागकी जीभोंसे युक्त होता तो उस बागेइरमकी वर्णना कर न सकता।

ग्रन्थकारने पूर्व जन्ममें पुण्य संचय किया होगा, नहीं तो वह ऐसी सिद्धि प्राप्त न होता कि उसके द्वारा इस 'ऊजड़ गाम' को पुण्यफल (लक्ष्मीके उद्यानका नाम) कर दिया है। कविका वचन प्रामाणिक है।

हरूफ़श चु ज़ुल्फ़े बुताने चुगल
हमा जाय जानस्तो मावाय दिल
मुश्रानीश दर ज़ेर हरफ़े सियाह
दरख़ शंदा चूँ मेहरो रोशन चुमाह

ईश्वरकी कृपासे पंडितजीने एक मित्र पाया है। ग्रापकी कृपासे उनकी चौपत्री मिली है। धन्य हमारे भाग्य !

२१ टोरनेफेल्ड रोड, आपका परम मित्र
१ मार्च १८९० ईस्वी जे० एफ० निकल

पुनश्चः—शीघ्र लिखता हूँ। भूल चूक क्षमा कीजिए।"

साहित्य-गोष्ठी

साहित्य-गोष्ठीके विषयमें भी पाठकजीने कई बार कहा। उनका विचार यह था कि प्रत्येक मासमें कहीं प्रकृतिकी गोदमें वृक्षोंके नीचे अथवा नदीतटपर साहित्यिक सज्जन इकट्ठे हुआ करें। प्रत्येक व्यक्ति अपना भोजन भी वहाँ साथ लेता जाय, और वहाँ साहित्य-सम्वन्धी चर्चा हुआ करे। इस गोष्ठीमें कोई अश्लील बात न कही जाय और न ग्राम्य भाषाका प्रयोग हो। जो महाशय व्याकरणकी अथवा अन्य प्रकारकी भूल करें, उनपर प्रत्येक भूलके लिए एक पैसा जुर्माना किया जाय। इससे अपनी भाषा इस प्रकार बोलनेका अभ्यास हो जायगा कि यदि उसे ज्यों-का-त्यों लिख दिया जाय, तो हर प्रकारसे शुद्ध भाषा हो। इस गोष्ठीमें बड़े-बड़े भाषण न दिये जायें। इस प्रकारके सम्मेलनोंसे पारस्परिक प्रेमका संचार होगा। पाठकजी कहते थे—

"This will certainly raise the tone of Hindi-

speaking. इस समय आप हिन्दीके साहित्य-सेवियोंको बिठला दीजिए, सब अपनी-अपनी खिचड़ी अलग पकावेंगे।" पाठकजीने यह भी कहा था कि इस प्रकारकी गोष्ठी दो बार पद्मकोटमें हुई भी थी। सोलह-सत्रह दिनोंके भीतर पाठकजीसे जो बातें हुई थीं, उन सबका ज़िक्र स्थानाभावसे यहाँ नहीं किया जा सकता। चलते समय मैंने उनसे कहा कि मेरी नोटबुकमें अपनी कुछ कविताएँ लिख दीजिए, दो-चार तो अपनी पसन्दकी और दो-चार मेरी पसन्दकी। उन्होंने मेरी प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया। ये कविताएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

प्राण पियारेकी गुण-गाथा साधु कहाँ तक मैं गाऊँ
गाते-गात चुकै नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ
विश्वनिकाई विधिने उसमें की एकत्र बटोर
बलिहारौं त्रिभुवन धन उसपर वारौं काम करोर

—एकान्तवासी योगी

यही स्वर्ग सुरलोक यही सुर कानन सुन्दर
यहिं अमरन कौ ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर

—काश्मीर सुखमा

समझके सारे जगतको मिट्टी, मिट्टी जोकि रमाता है
मिट्टी करके सर्वस अपना मिट्टीमें मिल जाता है
जो तन मनसे करता है श्रम उचित रीतिसे चलता है
सारी वसुधाका क्रमक्रमसे सर्वस उसको मिलता है

—जगत सचाईका सार

(पाठकजीके जीवनका मूल-मंत्र यही पंक्तियाँ थीं।)

हे घन! किन देसन मँह छाए बरसा बीति गई
फिरहु कहाँ भरमाए, का यह रीति नई?

—घन विनय

लसत लहलही जहाँ सघन सुन्दर हरियाई
तहँ अब ऊसरमई भई नसिगई निकाई

(ऊजड़ गाम)

भारतमें वन! पावन तूही;
तपस्वियोंका तप-आश्रम था
जग-तत्वकी खोज में लग्न जहाँ,
ऋषियोंने अभग्न किया श्रम था
जब प्राकृत विश्वका विभ्रम और था,
सात्त्विक जीवनका क्रम था
महिमा वनवासकी थी तब और,
प्रभाव पवित्र अनूपम था

(वनाष्टक)

नमो-नमो गिरितनया, अद्भुत वारि
सुरधुनि भारत-प्रनया, अघ तरवारि
नमो ब्रह्म-द्रव-रूपिनि, प्रेम-फुहार
तरल तरंग अनूपिनि, गंग-सुधार
तारिनि सगर-सुअनवा, स्वर्ग-नसैनि
बसहु सदा मो मनवा, सर्वसु-दैनि

× × ×

त्यों रहे जुक्त-प्रदेसवा-बहु नरनारि
बहु-स्वभाव, बहु-भेसवा, बहु-अनुहारि
इन महँ कोउ सदगुनवा मोहि न दिखाय
यहि सन करन बखनवा मन अनखाय

(देहरादून यात्रा)

अस्वस्थ रहते हुए भी पाठकजीने मेरे लिए जो कष्ट सहा, जैसा प्रेम-पूर्ण व्यवहार किया, जोंधरी और पिरोजाबाद' का सम्बन्ध जिस प्रकार

निबाहा, उसका स्मरण करके हृदय गद्‌गद हो जाता है। पाठकजीके सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरधर पाठकने भी जिस स्नेहपूर्ण बन्धुत्वका परिचय दिया, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी। उनके सहयोगसे पद्मकोटके १६–१७ दिन बड़े आनन्दसे और बड़ी जल्दी व्यतीत हो गये। चलते समय मैंने पाठकजीके चरण छुए। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया और कहा—"पद्मकोट कौं जोंधरी समझिकें मन आवै तब चले आइवौ करौ।" खेद है कि पाठकजीके बाद पद्मकोट मेरे लिए 'जोंधरी' के बजाय 'प्रयाग' या यों कहिये 'इलाहाबाद' बन गया ! अधिक क्या लिखूँ, इन संस्मरणोंको पाठकजीकी ही एक प्रेमपूर्ण चिट्ठीसे समाप्त करता हूँ—

श्रीप्रयाग

३०–९–२७

प्रियवर,

भौत दिनतें दस्सन पस्सन नाय भये ! अब तो पिरोजाबाद ई रैतऔ ? ऐमदाबादु च्यों छोड़िदयौ ? इतमाऊं हूँ कबऊँ आइबौ होगौ ?

कबऊँ कबऊँ तो चिट्ठी डारि दैबौ करौ ? उतमाऊँ ऋतु तो अच्छी होइगी—माँदिगी तौ नाय फैली ? अबकें पिराग में पानी अच्छी तरै नाय बस्सौ—

दसैरा मुआँ कैसौ हैरहौ है ? जल्दी लिखियौ—

श्री० पा०

वर्षोंसे मेरा विचार स्वर्गीय पाठकजीका एक जीवन-चरित लिखनेका था। इसी उद्देश्यसे दो सप्ताहसे अधिक उनकी सेवामें रहा था। आज इस बातको ११ वर्ष बीत गये, पाठकजीका स्वर्गवास हुए भी दो वर्षसे अधिक हो गये, पर जीवन-चरित नहीं लिखा गया ! क्यों ? बस, यह मुझसे न पूछिये। मुझे लिखते हुए दुःख होगा, आपको पढ़ते हुए खेद।

अगस्त १९३१

मेरी तीर्थ यात्रा

शंकरजी, गोस्वामीजी और द्विवेदीजी, इन तीन वयोवृद्ध साहित्य-सेवियोंकी सेवामें पहुँचकर उनके दर्शन करने तथा आशीर्वाद ग्रहण करनेकी इच्छा बहुत दिनोंसे थी। पर वह सन् १९२४के दिसम्बर मासके अन्तिम सप्ताह तथा जनवरी १९२५के प्रथम सप्ताहमें जाकर पूर्ण हुई। उस साल लिबरल-फेडरेशनका जलसा लखनऊमें हुआ था, वहाँ मुझे पूर्व अफ्रिकाके मामलेमें जाना पड़ा। वहाँसे द्विवेदीजीका स्थान कुछ निकट पड़ता था। इसलिए यात्राका क्रम यही निश्चित किया गया कि पहले दौलतपुर चला जाय, फिर हरदुआगंज और तत्पश्चात् वृन्दावन। दौलतपुरके लिए कानपुरके निकट विन्दकीरोड स्टेशनपर उतरना पड़ता है। वहाँसे वह क़रीब दस मीलपर है। रास्ता बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। बैलगाड़ीके सिवाय गंगाकी कछारोंमें और किसी सवारीका गुज़र नहीं। इक्का जा नहीं सकता। झटके इतने अधिक लगते हैं कि अगर आदमी सावधानीसे न बैठे और झटकेका मौक़ा आनेपर हर बार सम्हल न जावे, तो उसकी कमर टूटनेकी नौबत आ सकती है। फिर भी इस यात्रामें बड़ा आनन्द आया। लकीरकी फ़क़ीर रेलगाड़ीमें सुगम रीतिसे सफ़र करते हुए यदि किसीकी तबियत ऊब गई हो और प्राचीन कालकी यात्रा-विधिका अनुभव करनेकी इच्छा मनमें हो, तो उसे द्विवेदीजीके दौलतपुरकी यात्रा करनी चाहिए।

विन्दकी रोडसे सवेरेका चला हुआ दौलतपुर शामको पहुँचा। बीचमें गंगाजीको पार करनेके लिए नावका भी इन्तज़ार करना पड़ा, इसलिए और भी देर हो गई। द्विवेदीजीसे मिलनेका सौभाग्य एक बार जुही कानपुरमें मिला था, पर थोड़ी देरके लिए, और तब विशेष बात-

चीत भी न हो सकी थी। अबकी बार कई घंटे तक बातचीत हुई। समाचार-पत्रोंके वाद-विवाद पढ़कर द्विवेजीदीके विषयमें मैंने अपने मनमें अनेक धारणाएँ बना ली थीं, जो भ्रमपूर्ण सिद्ध हुई। जिन्होंने उनकी केवल कठोर आलोचनाएँ ही पढ़ी हैं, वे इस बातका अनुमान ही नहीं कर सकते कि द्विवेदीजीके हृदयमें इतनी कोमलता भी होगी। मैंने भी यही समझ रखा था कि द्विवेदीजी बड़े कठोर हृदय तथा द्वेषी स्वभावके आदमी हैं। फिर भी मैंने दौलतपुर जाना इसलिए उचित समझा था कि उनकी चालीस वर्षकी साहित्य-सेवाके लिए मेरे हृदयमें अत्यन्त श्रद्धा थी, और वह श्रद्धा ही मेरी इस यात्राकी प्रेरक थी, छिद्रान्वेषण नहीं। द्विवेदीजीका आतिथ्य और उनका नम्र स्वभाव देखकर मुझे अपनी सम्मति बिलकुल बदल देनी पड़ी। माननीय श्रीनिवास शास्त्रीजीके विषयमें बाम्बे क्रानिकल तथा मद्रासी 'हिन्दू' आदि पत्रोंके लेख देखकर मुझे बड़ा धोखा हो गया था और इसी प्रकारका धोखा पूज्य द्विवेदीजीके विषयमें भी था। इस यात्रासे यह बात मेरी समझमें आ गई कि जो लोग अख़बारी झगड़ोंसे आदमीके स्वभावका अनुमान करते हैं और किसीके विषयमें भली-बुरी सम्मति बना लेते हैं, वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं। सोनेके पहले द्विवेदीजीसे तीन-चार घंटे जो बातचीत हुई, दूसरे दिन प्रातःकाल चार बजे उठकर मैंने उसके नोट अपनी नोटबुकमें लिख लिये थे और आज उन्हींके आधारपर यह लेख लिख रहा हूँ।

सबसे अधिक आकर्षित किया मुझे द्विवेदीजीकी नियमबद्धता, किफ़ायतशारी और स्वाभिमानशीलताने। जो नवयुवक साहित्यसेवी आत्म गौरवके साथ ज़िन्दगी बसर करना चाहते हों, वे द्विवेदीजीसे अनेक बातें सीख सकते हैं। यह बात बहुतसे पाठकोंको न मालूम होगी कि द्विवेदीजीने २०० रु० मासिककी नौकरी छोड़कर २३ रु० की नौकरी की थी। रेलके ट्रैफ़िक विभागमें वे १५० रु० के नौकर थे और ५० रु० भत्तेके मिलते थे। नौकरी भी ऐसी-वैसी नहीं थी। हज़ारों प्रार्थना-पत्रोंका फ़ैसला द्विवेदीजीके

हाथोंसे होता था। यदि द्विवेदीजी चाहते तो कई लाख रुपये रिश्वतमें कमा सकते थे। रेलपर जो माल भेजा जाता था, उसकी दरमें पैसे दो पैसेके फ़र्क़से भी व्यापारियोंको लाखोंका नफ़ा-नुक़सान हो सकता था, और ये व्यापारी बड़ी खुशीसे द्विवेदीजीको सहस्रों रुपये रिश्वतमें दे देते; पर द्विवेदीजीने अपनी ईमानदारीकी कौड़ीको लख-पतियोंके रुपयोंसे अधिक मूल्यवान् समझा।

द्विवेदीजीका नौकरी छोड़नेका भी एक क़िस्सा है। एक गोरे साहब बहादुर द्विवेदीजीसे ट्रेनिंग पाकर अफ़सर बने थे। फिर उन्होंने द्विवेदीजीपर रौब गाँठना शुरू किया और उनके साथ असज्जनताका व्यवहार किया। बस इसीपर नाराज़ होकर द्विवेदीजीने २०० रु०की नौकरीपर लात मार दी। लोगोंने बहुत समझाया, स्वयं वह अफ़सर भी अपने कियेपर पश्चाताप करता था। बड़े-बड़े अफ़सरोंको, जो द्विवेदीजीकी घोर परिश्रमशीलतासे परिचित थे, रंज हुआ। वे इस बातको अनुभव कर रहे थे कि एक अत्यन्त कर्तव्यशील आदमी हमारे हाथसे जा रहा है। इसलिए उन्होंने भी इस बातकी कोशिश की कि किसी तरह द्विवेदीजी रह जायें, पर उन्होंने एक बार जो निश्चय कर लिया, सो कर लिया।

पूज्य द्विवेदीजीकी धर्मपत्नीको इस बातसे खेद हुआ, पर वह दो-एक दिनसे अधिक नहीं रहा। उन्होंने बड़े सन्तोषपूर्वक यही कहा—अगर तुम मेहनत-मजदूरी करके आठ आने भी कमा लाओगे, तो मैं उसीमें सन्तोष कर लूंगी, और उन्होंने अपने वचनका अक्षरशः पालन भी किया। अनेक अशिक्षिता स्त्रियाँ अपने पतिके त्याग तथा तपके मार्गपर जानेमें अत्यन्त बाधक होती हैं। यदि द्विवेदीजीको ही किसी ऐसी स्त्रीसे पाला पड़ जाता तो हमारा विश्वास है कि जितनी साहित्य-सेवा उन्होंने की, उसकी चौथाई भी न कर पाते। द्विवेदीजी अपनी स्त्रीको कितनी श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे, उसका परिचय केवल इसी बातसे मिल सकता है कि

उन्होंने उनकी मृत्युके बाद एक छोटा-सा मन्दिर उनकी स्मृतिमें बनवाया, और उसमें लक्ष्मी तथा सरस्वतीकी मूर्तियोंके बीचमें उनकी एक संगमर-मरकी मूर्ति स्थापित की। मन्दिरकी बनावटसे द्विवेदीजीकी सुरुचिका पता लगता है। मन्दिरपर लिखा हुआ है—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' इति मनुः
'स्त्रियस्समस्ताः सकला जगत्सु' इति व्यास

साथ ही उसमें एक संस्कृत कविता भी है, जो स्वयं द्विवेदीजीकी बनाई हुई है। वह यहाँ उद्धृत की जाती है।

नवषण्णवभूसंख्ये विक्रमादित्यवत्सरे
शुक्रकृष्णत्रयोदश्यामधिकाषाढमासि च
मोहमुग्धा गतज्ञाना भ्रमरोगविपीड़िता
जह्नुजायाः जले प्राप पञ्चत्वं या पतिव्रता
निर्म्मापितमिदं तस्याः स्वपत्न्याः स्मृतिमन्दिरम्
व्यथितेन महावीरप्रसादेन द्विवेदिना
पत्युर्गृहे यतः साऽऽसीत् साक्षाच्छ्रीरिवरूपिणी
पत्याप्येकाऽऽदृता वाणी द्वितीया सैव सुव्रता।

इसके बाद लक्ष्मी तथा सरस्वतीकी प्रशंसामें दो श्लोक हैं और उन दोनोंकी मूर्तियोंके बीचमें पूज्य द्विवेदीजीकी धर्मपत्नीकी मूर्ति है।

एषा तत्प्रतिमा तस्मान्मध्यभागे तयोर्द्वयोः
लक्ष्मीसरस्वतीदेव्योः स्थापिता परमादरात्

"पत्याप्येकादृता वाणी द्वितीया सैव सुव्रता" अर्थात् पतिने एक तो सरस्वतीका आदर किया और दूसरे उस पतिव्रताका, यह पद्य वास्तवमें महत्वपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस लगन तथा धुनके साथ द्विवेदी-जीने सरस्वती देवीकी सेवा की है, वह वर्तमान् हिन्दी-साहित्यके इतिहासमें सचमुच एक आदरणीय और अनुकरणीय वस्तु है। रेल तारकी नौकरी करते हुए संस्कृतका अध्ययन करना कोई आसान काम नहीं था। जब

आप झाँसीमें थे तो नित्य-प्रति चार बजे उठते थे। चारसे छः तक काम करते, फिर नित्यकर्मसे निवृत्त होकर संस्कृत पढ़ते थे। द्विवेदीजीकी परिश्रम-शीलताका यह हिसाब था कि ६ महीने आगेके सरस्वतीके अंकोंका मसाला बराबर अपने पास जमा रखते थे। अगर बीमार पड़ जायें तो ६ महीने तक इंडियन प्रेसवालोंको किसी दूसरे आदमीके रखनेकी ज़रूरत न पड़े। अठारह वर्ष सेवा करनेके बाद जब द्विवेदीजी अपने कार्यसे अलग हुए तो उन्होंने बख़्शीजीको जो लेख सौंपे थे, उनमें कई ऐसे थे, जो स्वयं बाबू श्यामसुन्दरदासजीने चार्ज देते समय उन्हें दिये थे।

द्विवेदीजीकी किफ़ायतशारीका हाल यह है कि जो कपड़े वे पहने हुए थे, कम-से-कम पाँच वर्ष पुराने थे, पर वे बड़े ढंगके साथ रखे गये थे। कम्बल या दरी इत्यादिमें एक कपड़ा तो शायद बीस-पच्चीस वर्ष पहलेका था। आज हम लोग द्विवेदीजीकी इस बातपर कि उन्होंने अपनी गाढ़ी कमाईके छः हज़ार रुपये छात्रवृत्तियोंके लिए हिन्दू-विश्वविद्यालयको दे दिये, उनकी प्रशंसा करते हैं, पर हममेंसे कितने आदमी इस बातको जानते हैं कि इन छः हज़ार रुपयोंको बचानेमें द्विवेदीजीको कितना संयम करना पड़ा होगा। जब द्विवेदीजीकी मासिक आमदनी दो सौ रुपयेसे तेईस-चौबीस रुपये रह गई, तब भी वे इन रुपयोंमेंसे तीन-चार रुपये दान-पुण्यके लिए निकाल लेते थे। जो साहित्यसेवी वृद्धावस्थामें सम्मान तथा स्वाभि-मानके साथ रहना चाहे, उसको द्विवेदीजीकी किफ़ायतशारीसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। बड़े-से-बड़े धनाढ्य आदिमयोंकी कृपाकी परवाह द्विवेदीजीने नहीं की। वे सदा स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करते रहे हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि वे जीवनभर बड़ी किफ़ायतसारीसे चलते रहे हैं। जिस दिन शामको मैं दौलतपुर गया था, उस दिन द्विवेदी-जीके साथ खेतपर टहलने जानेका मौक़ा भी मिला। उनके खेतके बबूलोंके झाँकरोंके गट्ठे वहाँ पड़े हुए थे। गिनतीमें वे १६ थे। द्विवेदीजीने उनको गिना। एक किसानसे उन्होंने कहा कि तुम्हारे खेतमें इतना अनाज पैदा

हुआ और हमारेमें उससे आधा भी नहीं हुआ, इसका क्या सबब है? द्विवेदीजी पैसे-पैसेका हिसाब रखनेवाले आदमी हैं। कहा जाता है कि जब महात्माजी दक्षिण अफ्रिकासे डेपूटेशनमें विलायत गये थे तो उन्होंने अगर दो पैसेकी मूँगफली ली, तो उसका भी हिसाब रखा था। इसी तरह द्विवेदीजी भी सरस्वतीके पोस्टेजके पैसे-पैसेके कार्डका हिसाब रखते थे।

द्विवेदीजी प्रबन्ध करनेवाले भी अद्भुत हैं। उनकी नियमबद्धता और प्रबन्धशक्ति अनुकरणीय है। तेलका भरा हुआ दीपक अलग रखा हुआ था। मोमबत्ती भी थी और लालटेन भी टँगी हुई थी। दियासलाइयाँ ठिकाने सिर रखी हुई थीं। कोतल बिस्तर भी टँगे हुए थे। कोतल शब्दका अर्थ रिज़र्व होता है, यह मुझे द्विवेदीजीसे ही मालूम हुआ। पुराने ज़मानेमें जब रेल वग़ैरा नहीं थी, तब यात्रा इत्यादिके लिए मार्गमें स्थान-स्थानपर कोतल घोड़े रखे जाते थे। पहले घोड़े जब थक जाते तब ये कोतल घोड़े काममें आते थे।

अनेक साहित्य-सेवियोंके विषयमें द्विवेदीजीसे बातचीत हुई। शंकरजी, पं० श्रीधरपाठक, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचन्दजी, हरिभाऊ उपाध्याय इत्यादिका ज़िक्र आया। उन सब बातोंका विवरण स्थानाभावसे यहाँ नहीं दिया जा सकता। शंकरजीकी कविताकी उन्होंने बड़ी प्रशंसा की और माखनलालजीके विषयमें कहा कि अच्छे कवि हैं।

द्विवेदीजी महात्मा गान्धीजीके बड़े भक्त हैं। मिश्रकी कपासका एक पौधा भी उन्होंने अपने घर लगा रखा है। जिन दिनों महात्माजी दिल्लीमें उपवास कर रहे थे और समाचारपत्रोंमें उनकी हालतके वृत्तान्त छपते थे, द्विवेदीजी उन समाचारपत्रोंको बड़ी चिन्ताके साथ पढ़ते थे। एक दिन पढ़ा कि उनकी हालत नाज़ुक है। उस रातको द्विवेदीजी दूध नहीं पी सके। दूधपर ही उन दिनों वे रहते थे, और बहुत रोये भी। भारत-सेवक समितिके ईसाई सदस्य मि० ऐण्ड्रूज़ दुबेका परिचय महात्माजीसे करानेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। मैंने जब महात्माजीके

सहृदयतापूर्ण बर्तावका वृत्तान्त द्विवेदीजीको सुनाया, तो उनके नेत्रोंमें आँसू आ गये और चश्मा उतारकर उन्होंने वे आँसू पोंछे।

द्विवेदीजीमें विद्वताके साथ सहृदयता भी है, और उनकी कठोर लेखनीके भीतर कोमल हृदय भी छिपा हुआ है, यह बात मुझे अब तक ज्ञात नहीं थी। पर जहाँ मैंने द्विवेदीजीके सद्गुणोंकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया है, वहाँ साथ ही साथ उनके एक दोषका भी ज़िक्र कर देना आवश्यक है। द्विवेदीजीने बेजा परिश्रम करके अपने स्वास्थ्यको बिलकुल नष्ट कर लिया। प्रकृति अपने नियमोंकी अवहेलनाको सहन नहीं कर सकती। जो ऐसा करता है दंड पाता है। द्विवेदीजीके बेहद मानसिक परिश्रमका परिणाम यह हुआ कि अब कोई स्थायी मानसिक कार्य उनके लिए असम्भव होगया है। द्विवेदीजीका स्वास्थ्य पहले बहुत अच्छा था। एक बार तो आप रातमें चालीस मील पैदल चले गये थे। अत्यधिक मानसिक परिश्रमने अब यह दुर्दशा कर दी है कि बिन्दकीरोडपर बेहोश होगये और ८ घंटे योंही पड़े रहे। बीचमें द्विवेदीजीका स्वास्थ्य इतना खराब हो गया था कि कुल ३१ सेरके रह गये थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मृत्यु निकट ही है, पर लुईकोनीकी जल-चिकित्साके कारण आपकी जान बची, लेकिन इसके लिए तीन वर्ष तक आपको अत्यन्त संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ा था। अब द्विवेदीजीके लिए लेख लिखना भी कठिन है। फिर भी लेखोंके लिए सम्पादकोंकी चिट्ठियाँ उनके पास बराबर पहुँचा करती हैं। काशीके 'राम' नामक पत्रके सम्पादकने जब आपको लेख भेजनेके लिए बहुत तंग किया, तो आपने उन्हें यह श्लोक लिख भेजा —

> अनेकाधिव्याधिव्यथितहृदयं दीनवदनं,
> विहीनं पुत्रादिस्वजनसमुदायेन जगति।
> अतित्रस्तं ग्रस्तं हतविधिविलासैः सपदि मां
> शरण्यं श्रीराम त्रिभुवनपते पाहि दयया।

यह श्लोक द्विवेदीजीकी वर्तमान् स्थितिको भलीभाँति प्रकट करता है। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं दौलतपुरसे घरके लिए रवाना हुआ। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं हरदुआगंज भी जाऊँगा तो उन्होंने कहा कि शंकर-जीसे हमारा शतबार नमस्ते कहिये। "चिरंजीवी भूयाः। सौ वर्ष तक जीवित रहो, खूब संग्रह करो और लिखो" यह, आशीर्वाद पाकर मैं बिन्दकी रोड स्टेशनके लिए चल पड़ा। मना करनेपर भी ग्रामके बाहर तक पहुँचानेके लिए द्विवेदीजीने कष्ट किया !

हरदुआगंज

२ जनवरी सन् १९२५को मैं अपने छोटे भाईके साथ शंकरजीकी सेवामें हरदुआगंज पहुँचा। अभी थोड़ी देर ही हुई थी कि शंकरजीने एक काग़ज़ तुरन्त ही लिखकर दिया।

"ओ३म

षटपदी छन्द

बुध बनारसीदास चतुर्वेदी चल घरसे,
प्रेम पसार सबन्धु मिले आकर शंकरसे
तरुण वृद्धका योग, मिली यों गरमी सरदी
सरस अनुष्णाशीत शक्ति समतामें भर दी
कर दूर दुरंगी द्वैतकी अटल एकता होगई
हरिशंकरके भी पास जो, उमग आगराको गई।

शंकर रविवार २, १, १९२५"

१ अक्टूबर १९२४को शंकरजीके ज्येष्ठ पुत्र उमाशंकरजीका स्वर्ग-वास हो चुका था, अतएव उन दिनों वे बड़े ही दुखित थे। जो लोग प्रेम-मूर्ति शंकरजीके स्वभावको जानते हैं, वे इस बातका कुछ अनुमान कर सकते हैं कि इस वज्रपातसे उन्हें कितनी मानसिक वेदना हुई होगी। रह-रहके यह अनन्त दुख उनके हृदयको पीड़ित करता था। शंकरजीकी

नोटबुक इस दुखसे भरी पड़ी है। उन्हीं दिनों श्री रामनरेशजी त्रिपाठीने "मनकी" समस्या आपके पास भेजी थी। उसकी पूर्तिमें भी आपकी यह वेदना इस रूपमें छलक पड़ी।

देवी शंकराने देवलोकमें निवास पाया,
पीर पतिकी-सी न सहारी बूढ़ेपनकी।
शारदा कुमारी बूढ़ी दादीके समीप गई,
माँसे महाविद्या मिली राख त्याग तनकी॥
माता सुता भगिनीकी ओर उमाशंकरने
कूच किया ओढ़कर चादर कफ़नकी।
हाय शोक मूसलसे कालने कुचल डाली,
कोमल कवित्व शक्ति शंकरके मनकी॥

दोहा

क्या सूझे कवि कौमुदी, हे बुध रामनरेश।
हा शंकरको होगया अन्धकारमय देश॥

शंकर शोक

बूढ़ी सती शंकरा बिसार सेवा शंकरकी
त्याग तन स्वर्गको भलाई ले भली गई।
जीवन बिताया बिन व्याही पोती शारदाने
शोक स्याही धीरताके मुखमें मली गई।
बेटी महाविद्या परिवार और पीहरको,
छोड़ मरी दुःख दाल छातीपै दली गई।
हाय निज माता सुता भगिनीके पास प्यारे
पुत्र उमाशंकरकी चेतना चली गई॥

शंकरजीके यहाँ दो दिन रहनेका अवसर मिला। इस बीचमें उनके बहुतसे संस्मरण सुननेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। शंकरजीने अपनी

बाल्यावस्थामें एक दोहा रामजी नामक एक वैश्यके लिए जो बड़ा लोभी था और अपनी माँको बहुत तंग किया करता था, लिखा था। वह यह था।

अरे यार सुन रामजी लोभी तेरी जात।
नैक नैकसे दूध पै पकरै माँको हात ॥

शायद यही आपकी प्रथम रचना है।

एक बार हरदुआगंजमें एक मुशायरा होनेवाला था। शंकरजी उस समय बालक थे। एक मौलवी साहबसे उर्दू पढ़ते थे। आपको एक दिल्लगी सूझी। एक क्लीट काव्य बनाकर आप अलीगढ़ गये, और उसे अरबी हरफ़ोंमें किसी दूसरे मौलवीसे लिखा लाये। मुशायरेमें आपने अपनी वह ग़ज़ल भी पेश की। उसे कोई पढ़ ही नहीं सका! आख़िर आपके उस्ताद मौलवीने कहा "भई तुम्हीं पढ़ो यह तो पढ़ी ही नहीं जाती, क्या लिख लाये हो।" आपने पढ़ना शुरू किया।

जमुन ग़बीरो सकौफ़ा कज्जुल, इधर हमारे उधर तुम्हारे
तुफले तकीजा खिज़रे बतन्नुल, इधर हमारे उधर तुम्हारे
गजरबे ज़ाफिर क़तले बजर्रुल, इधर हमारे उधर तुम्हारे।

इसी प्रकारकी बहुतसी पंक्तियाँ थीं। श्रोतागण चक्करमें थे कि मामला क्या है। मतलब किसीकी समझमें नहीं आया। मतलब कुछ होता तो समझमें आता। आपसे पूछा गया कि आख़िर इसका अर्थ क्या है। आप बोले

शायरे अशआरे मोहमिल उर्फ़ नाथूराम नाम।
शेखसादी भी न समझें जिस सख़ुनवरका कलाम।

यह सुनकर लोग ख़ूब हँसे।

एक बार एक समस्या थी 'है जबसे दस्ते यारमें साग़िर शराबका' आपने इसकी यों पूर्ति की। यह संवत् १९३५की बात है, जिसे आज ५१ वर्ष हो गये।

खिलवतमें शर्म किसकी है आओ गले लगो
इस वक़्त काम क्या है मेरी जाँ हिजाबका
वह कौन है जो उक़दए तक़दीर हल करे
क्या यह कोई सवाल है हल्लुल—हिसाबका
हमसर हो चश्मे ज़ारसे कब हौसला है ये
सतलज व्यासा रावी वो झेलम चिनावका
लानतकी उसपै की औ मुहब्बत भी छोड़ दी,
है जबसे दस्ते यारमें साग़िर शराबका
शंकर हमारे वास्ते ममनूए महज़ है
पीना शराबका हो कि खाना कबाबका

इसके साथ ही आपने चिरकीनके रंगमें एक पद्य और भी लिख दिया था।

टेढ़ी नज़रसे देखें तो झाड़ा निकल पड़े
करती है काम यारकी आँखें जुलाबका'

शंकरजीके मज़ाक़के कितने ही पत्र लोगोंको कंठस्थ हो गये हैं। जब त्रिशूलजीको एक अच्छी कवितापर ५१ रु० पुरस्कार मिले थे, उस समय आपने लिखा था :—

शंकर क्या कविता करे क्या पावे उपहार।
इक्यावन तो ले गया, शंकरका हथियार॥

दिल्लीमें एक डाक्टरको आँख दिखानेके लिए गये। उसने कहा कि एक आँख तो ख़राब होगई बन नहीं सकती, दूसरीका इलाज अगर जल्दी न हुआ तो यह भी जाती रहेगी। उसी समय आपने कहा :—

हाथ जोड़ बूढ़े शंकरसे कहती है कविता बाला।
होके सूर, भजो केशवको, लेके तुलसीकी माला॥

नागरी प्रचारणी सभा आगरेके उत्सवपर "चाँदनी शरदकी' यह समस्या दी गई थी, उसकी आपने यह पूर्ति की:—

देखिये इमारतें मज़ार दुनियाके सारे,
रोज़ेने कहो तो शान किसकी न रद की।
हीरा पुखराज मोतियोंकी दर दूरकर
शंकरके शैलकी भी सूरत जरद की॥
शौकत दिखा दी जमुनाके तीर शाहजहाँ
आगरेने आबरू हरमकी गरद की।
धन्य मुमताज़ बेगमोंकी सरताज तेरे
नूरकी नुमाइश है चाँदनी सरदकी॥

शंकरजीसे स्वर्गीय प्रतापनारायण मिश्र तथा सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्माके अनेक संस्मरण सुने। उनकी राष्ट्रीयतापूर्ण कविताएँ भी नोटबुकमें पढ़ीं।

जब हम नवयुवक लेखकोंका जन्म भी नहीं हुआ था, उसके बीस वर्ष पहलेसे शंकरजी हिन्दी-साहित्यकी सेवा कर रहे हैं।

उन दिनों शंकरजी भट्ट भणन्त नामक एक पुस्तक लिख रहे थे। उसका एक पद्य सुनिए।

बूकता तमाकू दीया बार फूटी कोठरीमें,
गाँजी ओढ़ सोता हूँ, सरायकी-सी खाटपै।
भंगकी तरंगमें उमंग जाग जाती है तो,
जुंग भरे लेख लिख लेता हूँ कपाटपै॥
कोरी बाह बाह कोई कौड़ी भी न दान करे,
सूम खड़े कविता तरंगिनीके घाटपै।
दारुण दरिद्रता न छोड़ती है पिण्ड तो भी,
देवीकी दया है भारी भट्टके ललाटपै॥

शंकरजीकी सेवामें पहुँचकर किसी साहित्य-सेवीका वहाँसे जल्दी आना अत्यन्त कठिन है। उनके प्रेमपूर्ण आग्रहसे एक दिनके बजाय चार दिन ठहरना पड़ता है। उनका सारा शरीर पं० पद्मसिंहजी शर्माके शब्दों में

प्रेमके परिमाणुओंसे बना हुआ है। बड़ी कठिनतासे शंकरजीसे बिदा होकर हरदुआगंज छोड़ वृन्दावनके लिए रवाना हुआ।

(२)

द्विवेदीजी और शंकरजीके दर्शन करनेके बाद मैं पूज्य राधाचरणजी गोस्वामीजीके दर्शन करने वृन्दावन पहुँचा। सन्ध्या-समय था। गोस्वामीजी उस वक़्त अपने घरपर नहीं थे। वे एक मीटिंगमें, जो बन्दरोंके विषयमें हो रही थी, गये हुए थे। बृन्दावनकी जनता बन्दरोंके अत्याचारोंसे तंग आ गई थी, और कितने ही लोग इस बातके पक्षमें थे कि बन्दरोंको देश-निकाला दे दिया जाय। अनेक सज्जन इस प्रस्तावके घोर विरोधी थे। मीटिंगमें इसी विषयपर वाद-विवाद हो रहा था। पक्ष तथा विपक्षमें बड़े ज़ोरदार भाषण हुए। गोस्वामीजी बन्दरोंके पक्षमें थे। उन्होंने अपने भाषणमें कहा—"जिस समय बृन्दावन-का कुछ पता नहीं था और भगवान् चैतन्यदेव यहाँपर आये थे, उस समय बन्दरोंने ही अगुआ बनकर उन्हें सब स्थानोंका पता बतलाया था।" इस कथनकी पुष्टिमें उन्होंने पुराने ग्रन्थोंके कुछ प्रमाण भी दिये। दूसरी ओरसे कहा गया—"बन्दरोंने प्राचीन कालमें चाहे कुछ किया हो, आजकल तो उनके द्वारा बड़ी हानि हो रही है। कितने ही बच्चोंको वे काट खाते हैं, और एक-आध बार तो ऐसा भी हुआ है कि बन्दरोंने बच्चेको छतसे ढकेल दिया और उसे भारी चोट आ गई। बन्दरोंके मारे नाकोंदम है। इनको तो पकड़वाकर बृन्दावनसे दूर ही निकाल देना चाहिए।"

मीटिंगमें बड़ी गरमागरम बहस हुई, बहुत-कुछ होहल्ला हुआ और प्रस्तावपर वोट ही नहीं लिये जा सके! गोस्वामीजी-जैसे सुधार-प्रिय तथा समझदार व्यक्तिको बन्दरोंके पक्षमें बोलते देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। यही विचार मनमें उत्पन्न हुआ कि जो गोस्वामीजी अपनी लोक-प्रियताकी कुछ भी परवाह न करके और अपनी जीविकाको भी ख़तरेमें डालकर आजसे तीस-पैंतीस वर्ष पहले समुद्र-यात्रा, शुद्धि तथा विधवा-

विवाह आदिका समर्थन कर चुके थे, वे ही आज बन्दरोंके पक्षका समर्थन करते हुए कैसी लचर दलीलें दे रहे हैं ! स्वयं गोस्वामीजीने मुझसे कहा था--"लक्ष्मीनारायणजीके बरसानेके मन्दिरके लिए ५०० रुपये महीने-का ख़र्च है। उसके अधिकारी इस मन्दिरको मेरे पिताजीके सुपुर्द करना चाहते थे, पर मेरे विधवा-विवाहके पक्षमें होनेके कारण उन्होंने ऐसा नहीं किया।" बात दरअसल यह थी कि गोस्वामीजी अब वृद्ध हो गये थे, और उनके यौवनकालकी स्फूर्ति अब क़रीब-क़रीब नष्ट हो चुकी थी। यदि ऐसा न होता, तो वे बन्दरोंके समर्थनके लिए शास्त्रका सहारा न ढूँढ़ते। आचार्य गिड्वानीने, जो बृन्दावनके प्रेम-महा विद्यालयमें कुछ दिनों तक प्रिन्सिपल रहे थे और बन्दरोंकी करतूतोंसे भली-भाँति परिचित थे, एक बार कहा था--"जिस तरह विलायतमें 'Freedom of the city of London' ('लन्दनकी स्वाधीनता') महापुरुषोंको दी जाती है, उसी प्रकार बृन्दावनमें नागरिक स्वाधीनता बन्दरोंको प्रदान कर दी गई है।" गिड्वानीजी शायद अयोध्याजी नहीं गये, नहीं तो उनको पता लग जाता कि वहाँके बन्दरोंको नागरिक स्वाधीनता ही नहीं, बल्कि 'डोमीनियन स्टेटस' दे दिया गया है,--पूर्ण स्वतन्त्र हैं, और डार्विन-मतानुसार अपने वंशज मनुष्योंपर मनमाना शासन करते हैं। ख़ैर, कुछ भी हो, उस मीटिंगमें बड़ा आनन्द रहा। पक्ष और विपक्षके महानुभावोंके चेहरोंपर उनके मनोभाव झलक रहे थे, और उन्हें अध्ययन करना बड़ा मनोरंजक था। ख़ास तौरसे कुछ हलवाइयोंके चेहरोंपर, जो उस मीटिंगमें उपस्थित थे, बड़े करुणा-जनक भाव थे।

मीटिंग ख़त्म होनेके बाद गोस्वामीजीसे मिलना हुआ। अपने निकटके एक मन्दिरमें उन्होंने मेरे ठहरनेका इन्तज़ाम कर दिया। दूसरे दिन उनसे अनेक साहित्यिक विषयोंपर बातचीत हुई।

गोस्वामीजी हिन्दी-जर्नलिज़्म (पत्रकार-कला)के पिछले चालीस वर्षके जीते-जागते इतिहास थे, और उनके मुखसे पुरानी बातें सुननेमें बड़ा

आनन्द आया। संवत् १९३४से आपने समाचारपत्रोंमें लेख लिखना प्रारम्भ किया था, और उस समय शायद ही कोई ऐसा पत्र निकलता हो, जिसमें गोस्वामीजीके लेख न छपे हों। पुराने हिन्दी-समाचारपत्रोंका जैसा अच्छा संग्रह गोस्वामीजीके पास था, वैसा शायद ही कहीं किसीके पास हो। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा पं० बालकृष्ण भट्ट आपकी विद्वत्ताकी बड़ी प्रशंसा किया करते थे, और 'सुदर्शन'-सम्पादक माधवप्रसादजी मिश्रने तो उन्हें एक बार हिन्दीका वाणभट्ट तक कह दिया था। संस्कृत, हिन्दी तथा बँगलाका तो आपको बहुत अच्छा ज्ञान था ही, पर साथ ही मराठी, गुजराती, उड़िया और अंग्रेज़ी भी काम चलाऊ जानते थे।

संवत् १९३९में लार्ड रिपनके शासनकालमें शिक्षा-कमीशनकी नियुक्तिके समय जब उर्दूके समर्थक हिन्दीको हानि पहुँचानेपर तुले हुए थे, आपने २१ हज़ार व्यक्तियोंके हस्ताक्षर कराके हिन्दीके पक्षमें एक प्रार्थना पत्र उक्त कमीशनके पास भेजा था। संवत् १९४०में आपने 'भारतेन्दु' नामक मासिक पत्रका प्रकाशन प्रारम्भ किया था। 'भारतेन्दु'की उन दिनों अच्छी धूम थी, और उसके लेख दूसरे हिन्दी-पत्र तो उद्धृत करते ही थे, पर कभी-कभी अंग्रेज़ी पत्रोंमें भी उनका अनुवाद प्रकाशित हो जाता था। मथुरासे बृन्दावन तक रेलवे लाइनका निकलना 'भारतेन्दु'के आन्दोलनका ही परिणाम था। 'भारतेन्दु'में उन दिनों उन्होंने हास्यरसके जो निबन्ध लिखे थे, उन्हें जनताने ख़ूब पसन्द किया था। गोस्वामीजीने छोटी-बड़ी कुल मिलाकर ४० पुस्तक लिखी थीं। ब्रजभाषाके तो वे ज़बरदस्त समर्थक थे ही। 'भारतेन्दु' द्वारा ही आपने 'हिन्दू जातिकी वृद्धिका उपाय' शीर्षक लेख लिखकर शुद्धिकी आवश्यकता बतलाई थी, और उन्हीं दिनों 'विधवा-विवाह-विवरण' तथा 'विदेश-यात्रा-विचार' नामक पुस्तकें लिखकर विधवा-विवाह तथा विदेश-यात्राका समर्थन भी किया था। कूप-मण्डूकोंने इन पुस्तकोंके प्रकाशित होते ही गोस्वामीजीके विरुद्ध ज़बरदस्त आन्दोलन उठाया, पर आपने इसकी कुछ भी परवाह न की।

गोस्वामीजीसे दो-तीन बार कई-कई घंटे बातचीत हुई। उनका संक्षेप पुरानी नोट-बुकमेंसे यहाँ दिया जाता है! गोस्वामीजीने मुझे बतलाया कि हिन्दीका प्रथम पत्र 'बुद्धि प्रकाश' था, जिसे मुन्शी सदासुखलालने नूरुल-अबसार प्रेसमें छपाया था।*

गोस्वामीजीने एक बार ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्रके दर्शन किये थे, और उसका क़िस्सा बड़ा मनोरंजक है। गोस्वामीजी अपने एक शिष्यके यहाँ काशी गये थे। उस समय उनकी उम्र सत्रह-अठारह वर्षकी थी। उनके शिष्यसे तथा भारतेन्दु बाबूके घरानेसे कुछ अनबन चली आती थी, इसलिए गोस्वामीजी अपने शिष्यको यह बतलाना नहीं चाहते थे कि वे भारतेन्दुसे मिलनेके इच्छुक हैं। इसलिए उससे छिपकर रातको ११ बजे गणेशराम व्यासके साथ भारतेन्दुसे जाकर मिले। गोस्वामीजीने कहा––"उन दिनों मैं अनुभवहीन नवयुवक ही था, और भारतेन्दुसे अपनी पहली मुलाक़ातमें ही मैंने एक प्रश्न उनसे किया––'बाबू साहब, कविको रसिक होना चाहिए, या नहीं? उसको स्त्रियोंसे प्रसंग रखना चाहिए, या नहीं?' मेरी यह दुष्टता थी, पर भारतेन्दु बाबूने बड़ी स्पष्टताके साथ उत्तर दिया––'अवश्य, जो कवि होकर स्त्रीप्रसंग नहीं रखे, उसे श्रृंगाररसकी स्फूर्ति नहीं हो सकती और न वह सब बातोंको जान सकता है, और मैंने भी इसीलिए यह सब झगड़ा रख छोड़ा है।' भारतेन्दु बाबू उन दिनों डिग्रियों-के डरके मारे घरसे नहीं निकलते थे। तीन-चार लाख अपना बर्बाद कर चुके थे, और बहुत-सा रुपया उधार कर लिया था। पिछले ज़मानेमें महाराजा बनारसके यहाँ दरबारी हो गये थे। महाराजके यहाँसे उन्हें सौ रुपये महीने मिलते थे, काम कुछ नहीं था। महाराजने एक बार उनसे कहा––"बबुआ, तुमने अपनी सब दौलत बिगाड़ दी।" भारतेन्दुने

*** 'उदन्त मार्तण्ड' का पता श्री ब्रजेन्द्रनाथ वन्दोपाध्यायने पीछे लगाया**

कहा "महाराज, सब बिगाड़ दी। मेरे दादाको इसने खाया, मेरे बापको भी खाया और अब मुझे भी खा जाना चाहती थी, इसलिए मैंने कहा कि मैं ही इसे खा लूं। 'प्रेमजोगिनी' नाटकमें उन्होंने अपने चरित्रका बहुत-सा भाग लिख डाला है।"

गोस्वामीजीने बहुत-सी बातें भारतेन्दुके चरित्रके विषयमें बतलाईं, जिनको उद्धृत करना उचित न होगा। जीवन-चरित लिखनेके आदर्शके विषयमें आपने कहा—"नान्यास्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नेतराणि।" गोस्वामीजीके कहनेका अभिप्राय यह था कि जीवन-चरितोंमें सुचरितोंका ही वर्णन रहना चाहिए। जब मैंने श्री शिवनन्दन सहायजी द्वारा लिखित भारतेन्दुके जीवन-चरितकी प्रशंसा की, तो गोस्वामीजीने कहा—"वह जीवन-चरित अच्छी तरह नहीं लिखा गया। मेरे पास बाबूजीकी लगभग १०० चिट्ठियाँ हैं। कभी हम और आप दोनों साथ ही काशी चलें और भारतेन्दुजीके जीवनका मसाला इकट्ठा करें।"

श्री शिवनन्दनसहायजीके भारतेन्दु-जीवन-चरितको मैं हिन्दीकी सर्वश्रेष्ठ जीवन साहित्यिक चरित समझता था, और अब भी मेरी यही सम्मति है, इसलिए गोस्वामीजीके मुखसे यह सुनकर कि वह जीवन-चरित अच्छी तरह नहीं लिखा गया है, मुझे सचमुच आश्चर्य हुआ।

गोस्वामीजीने मुझसे कहा—"जिन साहित्य-सेवियों अथवा पत्रकारोंसे मेरा परिचय और पत्र-व्यवहार रहा, उनमें ख़ास-ख़ास ये हैं—श्रीनिवास-दासजी, श्रीधर पाठक, बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, रामकृष्ण वर्मा, बाबू तोताराम, पं० गौरीदत्त, देवकीनन्दन तिवारी, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनाथजी, दामोदर शास्त्री (दामोदर विष्णु सप्ते), पं० बद्रीदत्त जोशी, राव कृष्णदेवजी, बाबू काशीनाथजी खत्री, राजा लक्ष्मणसिंह, ज़ाहिरसिंह, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या इत्यादि।"

श्री गोस्वामीजी और श्रीधर पाठक इत्यादिके बीचमें ब्रजभाषा तथा खड़ी बोलीके विषयमें जो वाद-विवाद हुआ था, वह भी बड़ा मनोरंजक था। यह 'खड़ी-बोली-आन्दोलन' नामक पुस्तिकामें, जो बाबू अयोध्या-प्रसाद खत्री द्वारा संकलित की गई थी, प्रकाशित हुआ था। गोस्वामीजीने मुझे बतलाया कि 'सारसुधानिधि'में उनके तथा रत्नाकरजीके बीच भी वाद-विवाद चला था। मैंने गोस्वामीजीसे निवेदन किया कि आप अपने संग्रहकी एक बार व्यवस्था कर दीजिए, और उसे किसी प्रतिष्ठित संस्थाको दे दीजिए, जहाँ यह सुरक्षित रहे। उन्होंने कहा—"मैंने काशीकी नागरी प्रचारिणी-सभाको लिखा था कि वह इन काग़ज़ोंको ले ले, पर वहाँसे यह उत्तर आया कि हमारे पास इतना स्थान नहीं है कि हम इनको ढंगके साथ रख सकें। अब मैंने हिन्दू-विश्वविद्यालयको लिखा है। वे लोग लेनेको राज़ी हो गये है, और उन्होंने सूची माँगी है। मेरी यह अभिलाषा है कि जिन अलमारियोंमें यह मसाला रहे, उनपर मेरे लड़कोंका नाम रहे।"

जिस समय गोस्वामीजीने यह बात कही, उस समय मैं यह समझ सका कि अपने नौजवान पुत्रोंकी असामयिक मृत्युका हृदयबेधी दुःख अब भी उन्हें सता रहा था। सच बात तो यह थी कि इस असह्य दुःखके कारण उनका हृदय जल गया था, और इन पारिवारिक आपत्तियोंकी वजहसे वे सार्वजनिक जीवनसे विरक्त हो गये थे। फिर भी उनके हृदयमें सामाजिक तथा साहित्यिक विषयोंके प्रति काफ़ी अनुराग अवशिष्ट था। आवश्यकता इस बातकी थी कि कोई सहृदय लेखक उनके पास रहकर हिन्दी-पत्रों तथा पत्रकारों और लेखकोंके विषयमें उनसे बातचीत करता, और अनेक पुरानी स्मृतियोंको जाग्रत कर उन्हें साहित्यिक रूप देता। हिन्दी-पत्रोंके इतिहासका एक भाग स्वर्गीय रुद्रदत्तजी सम्पादकाचार्यके साथ समाप्त हुआ, दूसरा स्वर्गीय राधाचरणजी गोस्वामी अपने साथ ले गये, और तीसरा पूज्य द्विवेदीजीके मस्तिष्कमें है। परमात्मा उन्हें

स्वास्थ्य तथा शक्ति प्रदान करे और चिरकाल तक जीवित रखे, जिससे कम-से-कम यह तृतीय भाग तो जनता तक पहुँच सके। तीर्थ-तुल्य आदरणीय जिन तीन सज्जनोंके दर्शन करने मैं घरसे निकला था—द्विवेदीजी, शंकरजी तथा गोस्वामीजी—उनका आशीर्वाद पाकर फिर घर वापिस लौट आया। वह तीर्थ-यात्रा दस-बारह दिनसे अधिककी न थी, पर उसके अनुभव मेरे लिए अमूल्य थे। कभी-कभी मनमें आता है कि चार-पाँच महीनेका अवकाश लेकर भारतकी भिन्न-भिन्न भाषाओंके महारथियोंके दर्शन और सत्संगके लिए तीर्थ यात्रा करूँ, पर इतना अवकाश कहाँ, और मनका कोई साथी भी शायद ही मिले।

नवम्बर १९२९]

बड़े दादा श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

शान्ति निकेतनके वे दिन भी कितने सौभाग्यपूर्ण थे ! उस समय उस तीर्थके यात्रीको एक साथ ही छः महापुरुषोंके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो जाता था। बड़े दादा और गुरुदेव, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ और शास्त्री महाशय, आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा आचार्य नन्दलाल वसु। इनमेंसे तीन तो अब इस लोकमें नहीं रहे और चौथे आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य (शास्त्री महाशय) अब अवकाश प्राप्त करके अपने घर चले गये हैं। क्षितिबाबू और नन्दलाल वसु अब भी शान्तिनिकेतनका गौरव बढ़ा रहे हैं।

शान्तिनिकेतनके इन विशिष्ट व्यक्तियोंका अपना-अपना महत्त्व था। वे एक-दूसरेकी छाया नहीं थे। इन सबमें वयोवृद्ध थे बड़े दादा और उनके दर्शन करना मानो प्राचीन कालके किसी ऋषिके दर्शन करना था। जब गान्धीजीने प्रथम बार उनके दर्शन किये थे तो कहा था—

"इतने दिनों बाद भारतवर्षके प्राचीन ऋषिकी जीवित मूर्ति देखनेको मिली। आज तक तो केवल पुस्तकोंमें ही ऐसा पढ़ा था। जो पशु-पक्षी हम लोगोंकी आवाज़ सुनकर ही भाग खड़े होते हैं, वे ही प्रेमवश बड़े दादाके संगी हैं ! अपूर्व है यह मैत्री और प्रेमकी लीला !"

और जिस दिन गान्धीजीने उन्हें श्रद्धापूर्वक 'बड़े दादा' कहकर सम्बोधन किया था, बड़े दादा खूब हँसे थे। अट्टहास तो उनके स्वभावका ही एक अंग था। उन्होंने कहा था—

"मेरे भाई, तुम यद्यपि उम्रमें मुझसे छोटे हो तो भी मुझसे बहुत श्रेष्ठ हो। तुम अनन्त गुणवाले श्रीकृष्ण हो और मैं हूँ तुम्हारा गुणहीन

पगला बलराम दादा ! लेकिन मैं तुम्हें सदैव प्यार करूँगा। मुझे दुःख है कि मैं बूढ़ा हो चला। मैं तुम्हारी साधनाकी सिद्धि नहीं देख सकूँगा, लेकिन यह जानता हूँ कि प्रत्येक युगमें जो बड़े-बड़े भारतीय ऋषि हुए हैं, तुम उन्हींकी परम्परामें पड़ते हो। भीष्म, विदुर, महावीर, बुद्ध, कबीर, नानक आदि महापुरुष इसी रास्ते चले हैं। इन साधकोंकी धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही है। बहुत दिनोंसे उपेक्षित होनेके कारण यह धारा सूख चली थी, तुमने फिर उस धाराको जीवित रूपमें संसारके सम्मुख उपस्थित किया है। मैं बूढ़ा हुआ। तुम्हारी सिद्धिको प्रत्यक्ष देखनेका सौभाग्य यद्यपि मुझे नहीं मिला तो भी मुझे इस बातका सन्तोष है कि तुमने उस शाश्वत भारतीय धाराको जागृत किया है। जानता हूँ कि श्रेष्ठ तुम्हीं हो, लेकिन ज्येष्ठ तो मैं ही हूँ। मुझे बड़े दादा कहते हो, इसलिए बड़े भाईके नाते आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी साधना न कभी नष्ट होगी और न कभी कलुषित। देशके स्वाधीन हो जानेपर भी इस साधनाकी ज़रूरत रहेगी। उस समय ऐसा हो कि यह साधना तुम्हारे बाद भी अबाध गतिसे चलती रहे। कोई हीनता, कोई संकीर्णता, कोई स्वार्थ और कोई कलुष, तुम्हारी साधनाकी धाराको स्पर्श न कर सकेगी।"[१]

गुरुदेव (कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर)ने अपने संस्मरणोंमें बड़े दादाकी बड़ी श्रद्धापूर्ण मूर्ति अंकित की है। यद्यपि आगे चलकर तो वे 'रवि'के 'बड़े दादा'से जगतके 'बड़े दादा' बन गये थे, पर उन दिनों तो कविवर तथा उनके भाइयोंके ही 'बड़े दादा' थे। गुरुदेवने लिखा है—

"मैं बाल्मीकि रामायण पढ़ने लगा था और उसका अंट-शंट बँगला अनुवाद भी कर लेता था। मेरी संस्कृत पाठ्य-पुस्तकमें रामायणका एक अंश था और मेरा ज्ञान उसी तक परिमित था और उसे भी मैं पूरे तौरपर नहीं समझ पाता था। जब मेरी माताजीने सुना कि मैं महर्षि

१—आचार्य क्षितिमोहनसेनका 'महात्माजी और बड़े दादा' लेखसे

वाल्मीकिकी रचनाको मूलमें पढ़ लेता हूँ तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुई और अपने पुत्रकी इस करामातको अन्य कुटुम्बियोंके सामने प्रदर्शित करनेके लिए उत्सुक हो उठीं। वे बोलीं, 'ये श्लोक तू द्विजेन्द्र (बड़े दादा) को सुना।' मैं समझा कि अब आफ़त आई। अनेक बहाने किये, पर सब निष्फल। उन्होंने बड़े दादाको बुला भेजा और ज्योंही वे पधारे, माताजीने उनसे कहा, 'द्विजेन्द्र! सुन तो सही, रवि वाल्मीकि रामायण पढ़ लेता है और कितने अच्छे ढंगसे अनुवाद करता है!'

"बड़े दादा उस समय सम्भवतः अपनी किसी साहित्यिक रचनामें व्यस्त थे और वे मेरे संस्कृतसे बँगला अनुवादको सुननेके लिए बिल्कुल तैयार न थे। उन्होंने कुछ श्लोकोंका ही अनुवाद सुनकर कहा, 'बहुत अच्छा', और चलते बने।"

"बड़े दादा उन दिनों अपना महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ 'स्वप्न प्रयाण' लिख रहे थे। जितना वे लिखते थे, उसका बहुत-सा हिस्सा फाड़ कर फेंक भी देते थे और आम्रमंजरीकी तरह उनके द्वारा अस्वीकृत पद्य-खंड बरामदेमें फर्शपर बिखरे हुए दीख पड़ते थे। यदि उस समय उनकी रक्षा कोई कर लेता तो सुन्दर पुष्पोंके रूपमें आज वे बँगला साहित्योपवनको सुशोभित करते। हम सब लुक-छिप कर उनकी कविताका आनन्द उठाते थे। पर क्या हम उनके 'स्वप्न प्रयाण' को समझते भी थे? लेकिन पूरा-पूरा समझना उसके आनन्दको उठानेके लिए आवश्यक भी न था। उसकी समुद्रतुल्य गहराईको हम बालकवृन्द भले ही न माप सकते, पर उसकी लहरोंका आनन्द तो उठा ही सकते थे।"

यद्यपि मेरी प्रथम शान्तिनिकेतन यात्रा मई सन् १९१८में हुई थी तथापि सन् १९२०से पूर्व मुझे बड़े दादाके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। हाँ, प्रथम यात्रामें गुरुदेवके दर्शन अवश्य हुए थे और उनसे कुछ वार्तालाप करनेका भी अवसर मिला था। जब सन् १९२०-२१ में चौदह महीनेतक मुझे शान्तिनिकेतनके मुक्त आकाशके नीचे रहनेका

अवसर मिला तब तो कई बार बड़े दादाकी सेवामें उपस्थित हुआ और उनका अट्टहास तो बीसियों बार सुना।

शान्तिनिकेतनमें दो व्यक्तियोंका हास्य प्रसिद्ध था, एक तो बड़े दादाका और दूसरा शास्त्री महाशयका। ये दोनों हास्य संक्रामक थे और काफ़ी दूरसे सुनाई पड़ सकते थे। चूँकि दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ बड़े दादाके विशेष कृपापात्र थे और नित्यप्रति शामको उनकी सेवामें उपस्थित हुआ करते थे, इसीलिए उनके समीप रहनेके कारण प्रायः बड़े दादाकी चर्चा हुआ करती थी। शास्त्री महाशयसे भी बड़े दादाके विषयमें अनेक बार वार्तालाप हुआ था।

बड़े दादा बँगलाके बहुत अच्छे कवि और दर्शन-शास्त्रके प्रकाण्ड पंडित थे। उनका एक हिन्दी भाषा-भाषी नौकर था, जिसका नाम था मुनीसर। एक बार आप योगदर्शन पढ़ रहे थे। व्यास भाष्यमें आप ऐसे तन्मय हो गये कि अपने अशिक्षित नौकरसे पूछने लगे, "अच्छा मुनीश्वर! देखो तो इस पंक्तिका अर्थ ऐसा ही होगा न ?"

शास्त्री महाशयने सुनाया था कि बड़े दादा उसी थालीसे अपने नौकर मुनीसरके दो-तीन वर्षके लड़केको भोजन कराते थे और स्वयं भी भोजन करते जाते थे। मुनीसरका लड़का मैले-कुचैले कपड़े पहने रहता था, चेहरा और मुँह भी साफ़ न था; पर बड़े दादा उसके मुँहमें कौर देते और फिर स्वयं भी खाते। कई बार बड़े दादाके परिवारमें इस बातकी चर्चा चली। स्त्रियोंने कहा, "कहाँ तो प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुरके पौत्र और कहाँ नौकर मुनीसरका लड़का! यह तो बड़े दादा अच्छा नहीं करते!"

जब यह बात बड़े दादाके कानोंतक पहुँची तो वे बहुत नाराज़ हुए और बोले, "सो इसमें क्या है ? हमको जो अच्छा लगेगा वही करेंगे।"

बड़े दादा दुनियादारीसे बिल्कुल अंपरिचित थे। एक बार एक ब्राह्मण आपके पास भिक्षाके लिये आया और बोला, "मेरी लड़कीका विवाह है। कुछ सहायता दीजिये।"

बड़े दादाके पास उस समय कुछ नहीं था। उन्होंने उससे कहा, "भाई, और तो मेरे पास कुछ नहीं है, इस समय। यह घोड़ा-गाड़ी है, सो इसे ले जाओ और इसे बेचकर अपना काम चलाओ!" ऐसा कहकर आपने उसे घोड़ा-गाड़ी ही दे डाली!

एक बार कोई अन्य व्यक्ति आया और उसने कुछ कपड़ा माँगा। उन्होंने अपना बहुमूल्य काश्मीरी दुशाला उसे देकर कहा, "देखो, इसे जल्दीसे ले जाओ, नहीं तो कोई देख लेगा।" वह लेकर चला ही था कि घरवालोंने देख लिया। आख़िर उसे कछ रुपये देकर दुशाला वापस ले लिया।

चूँकि बड़े दादा महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरके ज्येष्ठ पुत्र थे, इसलिए पहले ज़मींदारीका काम उन्हींको सौंपा गया था; पर थोड़े दिनोंमें ही पता लग गया कि वह कार्य उनकी शक्तिके बाहरका है। वे अपनी ज़मींदारीमें लगान उगाहनेके लिए गये। बड़े दादाको सीधा-सादा समझकर किसानोंने कहा, "हुज़ूर, खानेको नहीं मिलता। लगान कहाँसे दें?"

बड़े दादाने पिताजीको चिट्ठी भेजी, "यहाँ दुर्भिक्ष पड़ा हुआ है, रुपया भेजो।"

सुनते हैं कि जब महर्षि देवेन्द्रनाथका मृत्युकाल निकट आया तो उन्होंने अपने सब लड़कोंको बुलाकर कहा था, "देखो, तुम सब अपने बड़े दादाकी देखभाल रखना। यह बहुत भोला है।" बड़े दादाके भोले पनके कारण उनके सुपुत्र तथा उनकी पुत्रवधू उनके अभिभावक बन गये थे।

बड़े दादा ८३-८४ वर्षकी उम्रतक बरावर लिखा-पढ़ा करते थे। अपने कार्यमें वे इतने मग्न रहते थे कि चिड़ियाँ प्रायः उनके सिर और कन्धेपर बैठा करती थीं और गिलहरियाँ तो उनके हाथसे भोजन करती थीं। एक बार एक चिड़ियाने उनके कन्धेपर बैठकर उनकी एक आँखपर आघात किया। आँख बहुत लाल हो गई। जब शास्त्री महाशयने पूछा,

"यह क्या हो गया ?" तो बोले, "नहीं-नहीं, कुछ नहीं, चिड़िया बिचारी तो कुछ जानती नहीं ।"

बड़े दादा खूब हास्य-प्रेमी थे । एक बार उन्होंने शास्त्री महाशयको लिखकर भेजा—

शशि ना च निशा, निशया च शशि
शशिना निशया च विभाति नभः ।
रविणा च विधुः विधुना च रविः
विधुना रविणा च विभाति जगत् ॥

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ कलकत्ते जानेवाले थे । इसलिए वे मुझे बड़े दादाकी सेवामें ले गये और उनसे कहा, "अगर आपको कोई चिट्ठी अंग्रेजीमें बोलकर लिखानी हो तो इसे बुला लेना ।" बड़े दादाने मुझे बुलाया । नामके आगे 'चतुर्वेदी' शब्द देखकर उन्हें यह भ्रम हो गया था कि मैं वस्तुतः वेद जानता हूँ ! इसलिए पहला प्रश्न उन्होंने यही किया, "वेदोंका अध्ययन कितना किया है ?"

मैंने कहा, "कुछ भी नही ।" मुझे निर्लज्जतापूर्वक अपना घोर अज्ञान स्वीकार करना पड़ा ।

"भारतीय दर्शन-शास्त्रके विषयमें कुछ जानते हो ?"

"नहीं जानता ।"

"मूल बातें भी नहीं जानते ?"

"नहीं जानता ।"

इसपर बड़े दादाको बहुत आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा, "अच्छा, बैठो । कुछ बातें सुन लो ।" और बड़े दादाने चालीस-पैंतालीस मिनट तक भारतीय दर्शन-शास्त्रकी मोटी-मोटी बातें मुझे बतलाई । दुर्भाग्यवश मेरी रुचि दर्शन-शास्त्रमें बिल्कुल नहीं थी, इसलिए मेरा मन बड़े दादाके भाषणमें नहीं लगा । जब बड़े दादा समझा चुके तो उन्होंने पूछा, "समझ गये ?"

मैंने सिर्फ़ इतना ही कहा, "हाँ, कुछ-कुछ समझमें आ गया।"

सुना है कि एक बार हज़रत सुलैमान अपने सुपुत्रको दर्शन-शास्त्रकी महत्त्वपूर्ण बातें समझा रहे थे। लड़का बहुत देरतक सुनता रहा। हज़रतने पूछा, "क्या समझे ? कुछ आशंका हो तो पूछ लो।" वह बोला, "और तो सब समझ गया, पर एक बात समझमें नहीं आई। वह यह कि ऊँटके पेटमें गोली कौन बनाता है ?" बस यही गति मेरी थी।

बड़े दादाकी सम्मतिमें प्रत्येक शिक्षित भारतीयके लिए दर्शन-शास्त्र-की मूल बातोंसे परिचित होना आवश्यक था। उस दिन मुझे अपने अज्ञानपर सचमुच बहुत लज्जित होना पड़ा।

बड़े दादा रातको बहुत देरतक पढ़ते रहते थे। पहले एक मोमबत्ती जलाते, फिर दो और फिर तीन। कभी-कभी रातको एक बज जाता, कभी दो। मुनीसर कहता, "हुज़ूर, सोनेका बख़त हो गया। बहुत देर हो गई।" बड़े दादा पूछते, "क्या बजा है ?" मुनीसर कहता, "दो बज गये।" बड़े दादा आश्चर्यसे कहते, "अरे, दो बज गये !"

× × ×

एक बार बड़ी ज़िम्मेवरीका काम मेरे सुपुर्द हुआ। जहाँ गुरुदेव गान्धीजीके असहयोग आन्दोलनसे कई अंशोंमें असहमत थे, वहाँ बड़े दादा गान्धीजीके कट्टर भक्त थे। उन्हें इस बातसे दुःख होता था कि उनका छोटा भाई 'रवि' गान्धीजीके विरुद्ध कुछ भी लिखे। गान्धीजी कलकत्ते पधारे थे। बड़े दादा उनकी सेवामें एक पत्र कलकत्ते भेज चुके थे और उसका 'पुनश्च' (शेषांश) किसी आदमीके हाथ भेजना चाहते थे और इस बातको गुप्त रखना चाहते थे। अतएव एक ऐसे आदमीकी तलाश हुई कि जो इस कामको सावधानीसे करे। बड़े दादाके प्राइवेट सेक्रेटरी, अनिलबाबूकी कृपासे उस पत्रको ले जानेका भार मेरे ऊपर डाला गया। गान्धीजीने उस पत्रको सुरक्षित नहीं रखा। शायद इस डरसे कि कहीं उस पत्रके प्रकट होनेसे गुरुदेव और बड़े दादामें कोई भ्रम उत्पन्न न हो जाय,

उन्होंने उसे नष्ट कर दिया। पर मैंने एक सावधानी की थी। उस पत्रकी नक़ल रख ली थी और वह नक़ल अब भी सुरक्षित है। पत्र अंग्रेज़ीमें था। उसका सारांश यह था—

रवि ग़लत रास्तेपर जा रहा है। जब भारतमाता अपने नवीन पुत्र 'स्वराज'को जन्म देनेके पूर्व पीड़ा सहन कर रही है, रवि ऐसे समय गाने-बजानेमें व्यस्त है। वह विश्व-बन्धुत्व-रूपी वृक्षकी शाखाओंपर पानी छिड़क रहा है, जबकि उसकी जड़ ही जलके अभावमें सूखी जा रही है। बिचारा सहृदय ऐण्ड्रूज़ भी अपने पथसे विचलित होता जाता है। मैं हृदयसे दुःखी हूँ। तुम ही मेरे आशाके ध्रुव नक्षत्र हो। ईश्वर दिन-रात तुम्हारे सिरपर अपने आशीर्वादोंकी बौछार करता रहे।

तुम्हारा अयोग्य
बड़ा दादा,
द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

इसी पत्रका 'पुनश्च' लेकर मैं कलकत्ते गया था।

गान्धीजीने इस पत्रका जो उत्तर दिया था, वह भी मेरे पास सुरक्षित है। उसमें उन्होंने बड़े दादाको यही लिखा था, "आप रविबाबूके विषयमें चिन्ता न करें, वे जो कुछ लिखते हैं, सद्भावनासे लिखते हैं। मैं उनसे मिलकर बात-चीत करूँगा।" इत्यादि।

बात यह थी कि बड़े दादा बड़े कट्टर देश-भक्त थे। जब दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ शान्तिनिकेतन पहुँचे थे तो बड़े दादाने उन्हें अपने पास तक नहीं फटकने दिया और एक दिन तो उन्हें इतनी खरी-खोटी सुनाईं कि दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ने बड़े दादाके पौत्र दीनू बाबूसे कहा, "दीनू! तुम्हारे बाबा तो बड़े भयंकर आदमी हैं!"

परन्तु दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ने बड़े दादाकी सेवा कर-करके उनको इतना मुग्ध कर लिया था कि वे ऐण्ड्रूज़के वियोगको सहन ही नहीं कर पाते थे। एक चिट्ठीमें बड़े दादाने दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़को लिखा था—

"मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ और तुम्हारा सम्मान भी करता हूँ। जितने भी मित्र मुझे इस जीवनमें मिले हैं और जिनके मिलनेकी भविष्यमें सम्भावना है, उन सबको मिलाकर और सबसे बढ़कर तुम्हीं हो। मुझे यह सौभाग्य प्राप्त है कि मैं तुम्हें 'माई डियरैस्ट चार्ली' कहता हूँ।" (५ मार्च १९२४)

बड़े दादा बँगलाके तो अत्युत्तम कवि थे ही, उन्हें अंग्रेज़ीमें भी छोटे-छोटे पद्य लिखनेका शौक़ था। एक दिन आपने अमरती मिठाईके साथ एक कविता दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़को लिख भेजी थी;

"As I have no other
O Charlie, brother,
Friend in need
In will and deed,
Send I to thee
Sweet Amritee
Do not refuse
To make good use
of eleventh Magh Cake
For Bordada's sake

(26.9.25)

सौभाग्यसे बड़े दादाकी यह कविता मेरे संग्रहालयमें सुरक्षित है।

बड़े दादा अपने जीवन भर यही समझते रहे कि उनके सबसे छोटे भाई 'रवि'में आवश्यकतासे अधिक उत्साह और कल्पना-शक्ति है और उसे कभी-कभी नियन्त्रण करने तथा डाँटने-फटकारनेकी आवश्यकता है। एक दिन तो प्रातःकालके समय उन्होंने अपने 'रवि'को बुलाकर डाँटते हुए कहा, "तुम अपनी संस्था गान्धीजीको क्यों नहीं सौंप देते? उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्षको जिस प्रकार आन्दोलित कर दिया है, वैसा तुम तो कभी भी न कर सकोगे।" फिर शामको बड़े दादाके मनमें विचार आया

कि वे रविपर आवश्यकतासे अधिक कठोर हो गये थे और बोले, "रविका आदर्श तो बहुत ऊँचा है—अर्थात् समस्त संसारकी संस्कृतियोंका आतिथ्य करना—लेकिन उस आदर्शको समझनेवाले हैं कितने ? उस आदर्शकी उच्चता तक पहुँचनेके लिये देशको कई युग लग जायेंगे, और रविका स्वास्थ्य भी तो अब उतना अच्छा नहीं है। उसका स्वास्थ्य इस योग्य नहीं कि यह भार सहन कर सके। इसीकी तो मुझे चिन्ता है।"

गुरुदेवने अपने जीवन-चरितमें बड़े दादाके विषयमें जो संस्मरण लिखे है, वे भी बहुत मधुर हैं।

जब बड़े दादाका स्वर्गवास हुआ तो २६ नवम्बर १९२५के 'यंग-इंडिया'में गान्धीजीने उनके विषयमें एक बड़ा सुन्दर नोट लिखा था— "बड़े दादा चले गये।"

एक बार शास्त्री महाशयसे मैंने प्रार्थना की थी कि बड़े दादाका जीवन-चरित लिखा जाय और उन्होंने यह वचन भी दिया था कि वे इस कार्यमें भरपूर सहायता देंगे, पर दुर्भाग्यवश यह काम उस समय न हो सका। क्या हम आशा करें कि बन्धुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस श्राद्ध कर्मको पूर्ण करेंगे ?

अगस्त १९५०]

श्रीरामानन्द चट्टोपाध्याय

"रामानन्द बाबू तो ऋषि हैं," ये शब्द महात्मा गान्धीने कलकत्ता-कांग्रेसके अवसरपर एक दिन टहलते हुए मुझसे कहे थे। स्वराज्यके मन्त्र-दृष्टाके रूपमें श्री रामानन्द चट्टोपाध्यायके सम्पूर्ण जीवनको यही एक वाक्य सूत्र रूपमें व्यक्त कर देता है, क्योंकि अर्द्धशताब्दी तक जिस लगनके साथ और जैसी ओजस्वी भाषामें इस मन्त्रकी व्याख्या इस महान् पत्रकारने की, वैसी अन्य किसी भारतीय पत्रकारने शायद ही की होगी। इस दृष्टिसे भारतीय पत्रकार-कलाके इतिहासमें वे अद्वितीय थे, अनुपम थे।

"आपने सुना कि नहीं? रामानन्दबाबू एक हिन्दी मासिक निकालने जा रहे हैं।" श्री सहगलजीने पूछा।

उन दिनों मैं 'अभ्युदय'में काम कर रहा था और यों ही टहलते हुए 'चाँद' कार्यालयपर जा निकला था। मैंने उत्तर दिया, "यह शुभ समाचार मैं आपसे ही सुन रहा हूँ। किसने कहा?"

उन्होंने बतलाया कि श्री रामदास गौड़ने उन्हें यह ख़बर दी थी। मैं सीधा श्रद्धेय पंडित सुन्दरलालजीके यहाँ पहुँचा। सन् १९१०से मैं पंडितजीका भक्त रहा हूँ और वे मेरे लिए गुरु-तुल्य पूज्य रहे हैं। उनका रामानन्दबाबूसे पुराना परिचय था, बल्कि यों कहना चाहिए कि सुन्दरलालजी उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। उन्हींके आग्रह और उन्हींकी सिफ़ारिशसे मुझे 'विशाल भारत'में काम करनेका सुअवसर मिला।

मेरे मनमें संकोच था। अपनी अयोग्यता और अनुभवहीनताके कारण मनमें यह आशंका थी कि 'माडर्न रिव्यू' तथा 'प्रवासी'—कार्यालयसे

में अच्छा पत्र निकाल भी सकूँगा, पर पंडित सुन्दरलाल तो ठहरे घोर आशावादी, उन्होंने हिम्मत बँधाई और कहा, "अरे भई, डरनेकी क्या बात है ? हम लोग भी तो हैं। हम तुम्हारे साथ हैं।"

× × ×

'विशाल भारत'के सम्पादन-कालमें मुझसे न जाने कितनी भूलें हुई और मेरी धृष्टताओंका भी अन्त नहीं था, पर रामानन्दबाबूने जिन्हें हम 'बड़े बाबू'के नामसे पुकारते थे, सदा मुझे क्षमा ही किया। वे सदासे 'पूर्ण स्वाधीनता'के उपासक थे और अपने अधीनस्थोंके प्रति उनका बर्ताव सहृदयतापूर्ण ही होता था। सम्पादकीय अधिकारोंको वे सुरक्षित रखनेके पक्षमें थे और विरोधीके दृष्टिकोणके प्रति भी उनके हृदयमें सहिष्णुता थी।

× × ×

'विशाल भारत'के किसी प्रारम्भिक अंकमें एक नटीका चित्र छप गया था। बड़े बाबूने मुझे बुलाकर बड़ी सावधानीसे कहा, "अच्छा हो यदि आप नर्तकियोंके चित्र 'विशाल भारत'में न छापें। उनका जनतापर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। वे प्रायः सच्चरित्र नहीं होतीं।"

मैंने बड़े बाबूसे कुछ बहस करनेकी भी धृष्टता की थी। आज यह सोचकर लज्जित होता हूँ और अपनी मूर्खतापर हँसी भी आती है।

"वह नटी बड़ी कलाकार है और किसीके चरित्रकी जाँच हम लोग कहाँ तक करते फिरेंगे ?" मैंने यह तर्क उपस्थित किया।

बड़े बाबूने सिर्फ़ इतना ही कहा, "आपको पूर्ण अधिकार है कि आप चाहे जो कुछ लिखें, चाहे जिसका चित्र छापें। हाँ, अपने अनुभवके विचारसे यह परामर्श मैंने दे दिया है।"

उन्हीं दिनों अकस्मात् मोहनजोदड़ोके आविष्कारक, श्री राखालदास बनर्जी 'विशाल भारत' कार्यालयमें आ निकले। वे इस बातको सुनकर बहुत हँसे और उन्होंने कहा--

"देखिये, आप मेरी ग़लती न दुहराइए। जब मैं प्रयागमें था तो कहीसे मुझे किसी नर्तकीकी तस्वीर मिल गई। उसे योंही जेबमें डाले हुए केदारबाबूसे मिलने चला गया। वह चित्र ग़लतीसे वहीं बड़े बाबूकी मेज़पर छूट गया। दूसरे दिन जब मैं वहाँ पहुँचा तो उस चित्रके चार टुकड़े जुड़े हुए टेबिलपर, उसी जगह रखे थे! मैंने केदारबाबूसे पूछा—यह क्या हुआ? उन्होंने बतलाया—बड़े बाबूका स्वभाव आप जानते ही हैं। और क्या कहूँ।...उस पुरानी घटनाको सामने रखते हुए मैं तो यही कहूँगा, बड़े बाबू प्राचीन विचारोंके आदमी हैं। आप उनकी बात मान लीजिये और भविष्यमें ऐसी भूल न कीजिये। यह कोई सिद्धान्तका सवाल तो है ही नहीं। आपको बड़े बाबूसे इस विषयपर तर्क ही न करना चाहिए था।"

श्री राखालबाबूकी आज्ञा मैंने शिरोधार्य की और उस मामलेको जहाँ-का-तहाँ छोड़ दिया।

× × ×

बड़े बाबूकी उदारता तथा स्वाधीनता-प्रेमका एक उज्ज्वल दृष्टान्त मुझे उस समय मिला, जब वे हिन्दू महासभाके प्रधान बनकर सूरत गये थे। 'विशाल भारत' उन्हींका पत्र था और साधारण तौरपर उसके पाठक यही आशा कर सकते थे कि उस समय उक्त पत्रमें उनका चित्र, चरित्र तथा भाषण छपे। मैंने धृष्टतावश उनमेंसे एक भी चीज़को स्थान नहीं दिया, बल्कि इसके विपरीत एक सम्पादकीय टिप्पणी द्वारा उनके सभापतित्वका विरोध किया! उस टिप्पणीका सारांश यही था कि किसी भी राष्ट्रीय कार्यकर्ताको हिन्दू-सभा-जैसी साम्प्रदायिक संस्थाका सभापति नहीं बनना चाहिए।

जब बड़े बाबू सूरतसे लौटे तो उन्होंने मुझसे कहा, "हमारे सूरतवाले भाषणकी यदि कुछ आलोचना हिन्दी-पत्रोंमें निकली हो तो मुझे दिखलाइएगा।"

मैंने कहा, "'विशाल भारत'में जो कुछ लिखा गया है, वह तो आपने देखा ही होगा।"

उन्होंने कहा, "अभी मैं 'विशाल भारत' पढ़ नहीं पाया। आपने क्या लिखा है ?"

मैंने धृष्टतापूर्वक अपनी टिप्पणी उन्हें दे दी। बड़े बाबूने इसे पढ़ा और मुस्कराकर कहा, "इसका तो मुझे जवाब देना पड़ेगा। हिन्दी में बोल तो लेता हूँ, पर शुद्ध लिख नहीं सकता। मैं अंग्रेज़ीमें उत्तर लिखूं तो आप उसका अनुवाद करके दे सकेंगे ?"

मैंने कहा, "अवश्य।"

बड़े बाबूका वह करारा उत्तर 'विशाल भारत'में छपा था और अपनी धृष्टताके लिए मुझे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा गुरुवर पंडित पद्मसिंह शर्मासे ख़ासी फटकार मिली थी। द्विवेदीजीने कहा था, "रामानन्द-बाबू तो हमारे भी गुरु हैं। सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखना हमने भी उन्हींसे सीखा है। चौबेजी, तुम्हें बहुत सोच-समझकर और सावधानीसे उनके बारेमें लिखना चाहिए था।" पूज्य पंडित पद्मसिंहजी शर्माने भी इसी आशयका एक पत्र लिखा था।

स्वयं बड़े बाबूने, जो सम्पादकीय स्वाधीनताके प्रबल पक्षपाती थे, कुछ भी बुरा न माना। जब मैंने उनसे पंडित पद्मसिंहजी शर्माकी चिट्ठी-का ज़िक्र किया तो उन्होंने सिर्फ़ इतना ही कहा, "अपनी स्वाधीनताके लिए मैंने कायस्थ पाठशालाके प्रिंसिपलका पद छोड़ दिया था, भला मैं किसीकी स्वाधीनताका अपहरण कैसे कर सकता हूँ ? 'विशाल भारत'के सम्पादनमें आपको उतनी ही स्वाधीनता है, जितनी मुझे 'माडर्न रिव्यू' और 'प्रवासी'में।"

इसके बाद बड़े बाबूने मुझे एक पत्र भी लिखा, जिसमें यह बात स्पष्ट कर दी गई थी कि मुझे 'विशाल भारत'के सम्पादनसे लेकर हर प्रकारके प्रबन्धकी भी पूरी स्वतन्त्रता है।

'विशाल भारत'के प्रथम अंकसे ही मैंने साम्प्रदायिकताका विरोध किया था और साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता तथा जातीय विद्वेषको देशके लिए अभिशाप बतलाया था। जब मुझे अपनी निश्चित नीतिके अनुसार बार-बार साम्प्रदायिकताके विरुद्ध लिखना पड़ा तो स्वभावतः कुछ व्यक्तियों-को यह बात बहुत अखरी। एक दिन मैंने यह सुना कि हिन्दू महासभाके एक ज़िम्मेवर अधिकारी तथा अन्य कुछ व्यक्ति डैपूटेशन लेकर बड़े बाबूकी सेवामें उपस्थित हुए और 'विशाल भारत'की नीतिकी शिकायत की। बड़े बाबू हिन्दू महासभाके सभापति रह चुके थे, इसलिए उनकी सेवामें शिष्टमण्डल पहुँचना स्वाभाविक ही था। उन लोगोंकी बड़े बाबूसे जो बातचीत हुई उसका प्रामाणिक विवरण मुझे नहीं मिला। योंही उड़ती हुई ख़बर मैने अवश्य सुनी कि बड़े बाबूने उनसे यही कह दिया कि सम्पादकके अधिकारोंमें वे हस्तक्षेप नहीं कर सकते। हाँ, वे अपना नाम उस पत्रपरसे हटा सकते हैं। इसके कुछ दिनों बाद ही उन्होंने संचालकके पदसे अपना नाम हटा लिया था।

× × ×

बड़े बाबू अपनी यौवनावस्थामें प्रातःकाल ५ बजेसे लेकर रातके ९ बजेतक श्रम किया करते थे। हाँ, बीचमें भोजनोपरान्त घंटे भर विश्राम अवश्य करते थे। अपनी अधेड़ अवस्थामें भी उन्होंने दस घंटेसे कम कार्य कभी नहीं किया था। जिन दिनों उनकी अवस्था ७०-७१ वर्षकी थी, उनकी परिश्रमशीलताको देखकर आश्चर्य होता था। अपनी टिप्पणियोंके अन्तिम प्रूफ़ वे स्वयं ही देखते थे, और यह क्रम उन्होंने अपने अन्तिम दिनों तक जारी रखा। एक बार मैंने उनसे कहा, "बड़े बाबू, आप ७१वीं वर्षमें भी इतना श्रम कैसे कर लेते हैं ?"

उन्होंने बड़े संकोचसे उत्तर दिया, "मैं क्या परिश्रम करता हूँ ? परिश्रम तो डाक्टर संडरलैण्ड करते हैं, जो ८८-८९ वर्षकी उम्रमें भी

बराबर 'माडर्न रिव्यू'के लिए लिखते रहते हैं। हाँ, कभी मैं भी मेहनत करता था। सवेरे ६से १२ तक और फिर १से ६ तक और रातको भी दो-ढाई घंटे निकाल लेता था। अब मुझसे उतना काम नहीं होता।"

यह उनकी परिश्रमशीलताका ही परिणाम था कि उनके समयमें 'प्रवासी' तथा 'माडर्न रिव्यू' बराबर समयपर निकलते रहे। 'माडर्न रिव्यू' निकालनेके पहले उन्होंने तीन वर्षके लिए सामग्री जुटा ली थी। एक बार उन्होंने मुझसे कहा भी था, "यदि कहींसे भी कोई लेख तीन वर्ष तक न आता तो भी 'माडर्न रिव्यू' चलता रहता।"

× × ×

बड़े बाबू बहुत कम बोलते थे। एक बार लाला लाजपतरायने वर्मामें उनकी सुपुत्रीसे कहा था, "तुम्हारे पिताजी तो एकाकी जीवन पसन्द करते हैं।" बड़े बाबू जानते थे कि अधिक बातचीतमें समय तथा शक्ति दोनोंका ही अपव्यय होता है और इसीलिए उन्होंने अपनेको सभाओं तथा गोष्ठियोंसे बिल्कुल अलग कर लिया था। सन् १९०७के कांग्रेस-अधिवेशनके पश्चात् उन्होंने बीस वर्षके लिए सार्वजनिक जीवनसे एक प्रकारका सन्यास-सा ले लिया था। उन बीस वर्षोंकी घोर तपस्याके परिणामस्वरूप 'प्रवासी' तथा 'माडर्न रिव्यू' बँगला और अंग्रेज़ीके सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र बन गये थे।

'विशाल भारत'में बड़े बाबूको २०-२५ हज़ारका घाटा सहना पड़ा। एक बार जब घाटेकी रक़म १५ हज़ारसे ऊपर पहुँच चुकी थी, उन्होंने 'विशाल भारत'को बन्द करनेका निश्चय-सा कर लिया। उस समय उन्होंने मुझे बुलाया और कहा, "पंडितजी, आप जानते ही हैं कि मैं ऋण-ग्रस्त हूँ। हिन्दीवाले 'विशाल भारत'को नहीं अपना रहे, इसमें मैं आपका कोई अपराध नहीं मानता। पत्र शायद उन्हें पसन्द नहीं आता। अब हम लोग उसे बन्द ही क्यों न कर दें?"

इस धर्म-संकटके अवसरपर मुझे एक युक्ति सूझ गई और मैंने तुरन्त

कहा, "यह तो मेरे सम्मानका प्रश्न है। आप मुझे एक वर्ष और दें। अभी बन्द कर देंगे तो मेरी बड़ी बदनामी होगी और मैं कहींका नहीं रहूँगा! मेरा पत्रकार-जीवन प्रायः नष्ट ही हो जायगा!"

यह तर्क काम कर गया! उन्होंने केवल यही कहा, "अच्छा, पंडितजी, एक वर्ष और प्रयोग कर देखिये।"

उसी वर्ष पंडित पद्मसिंह शर्माके स्मारक-स्वरूप एक विशेषाङ्क निकला था, और वह श्राद्ध-कार्य 'विशाल भारत'के लिए जीवनदाता ही सिद्ध हुआ। उस वर्ष घाटा बिल्कुल नहीं हुआ।

एक बार उत्तर भारतके एक हिन्दी पत्रमें एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें यह कहा गया था कि 'विशाल भारत' हिन्दी भाषा-भाषियोंका शोषण करके बंगालियोंका पेट भरता है। बड़े बाबूके पास भी उस लेखकी कतरन पहुँची थी। उन्होंने मुझे बुलाया और कहा, "पंडितजी, अब आप 'विशाल भारत'को बन्द ही कर दीजिये। आप जानते ही हैं कि हमने 'विशाल भारत'से अबतक एक पैसा भी नहीं कमाया। बीस-पच्चीस हज़ारका घाटा हम दे चुके हैं और इस समय सत्तर हज़ारके ऋणी हैं। हम अब वृद्ध हो चुके हैं और शरीर काम नहीं देता। मैं ऋण-ग्रस्त नहीं मरना चाहता, यही मेरी एक इच्छा है। जब हिन्दीवाले हमपर इतना अविश्वास करते हैं तो फिर 'विशाल भारत' को चलानेका हममें साहस नही है।"

सचमुच ही उक्त पत्रके लेखकने जो आक्षेप किया था, वह नितान्त असत्य ही नहीं था, घोर हृदयहीनताका भी सूचक था।

मैंने बड़ी विनम्रतासे कहा, "बड़े बाबू, उक्त पत्रके सम्पादक एक नवयुवक ही हैं, उन्हें अनुभव नहीं है। उनके कथनको आप हिन्दीजगत्‌की सम्मति न मान लें।"

उन्होंने इस पत्रके सम्पादकका परिचय पूछा तो मैंने बताया कि वे अमुक सज्जनके सुपुत्र हैं। बड़े बाबूने कहा, "उन्हें तो मैंने कायस्थ

पाठशालामें पढ़ाया था। उन्होंने ऐसे अनुभवहीन युवकको सम्पादन-भार क्यों सौंप दिया ?"

बड़े बाबूको उस लेखने सचमुच बहुत उद्विग्न कर दिया था। फिर उन्होंने कहा, "अच्छा, इस अन्यायपूर्ण लेखके विपक्षमें भी किसीने लिखा ?"

मैंने कहा, "अभी हिन्दीजगत्‌में यह प्रथा नहीं चली कि अपने साथी पत्रपर अन्याय होते देखकर कोई उसका बचाव करे !"

बड़े बाबू बड़े चिन्तित हो गये। जिसका सम्पूर्ण जीवन ही अन्यायोंका प्रबल विरोध करते हुए बीता हो, उसके लिए हिन्दी पत्रकार-जगत्‌का यह प्रमाद चिन्ताका विषय अवश्य था।

हिन्दी राष्ट्रभाषा आन्दोलनके पक्षपाती न होते हुए भी बड़े बाबूने इस उद्देश्यसे 'विशाल भारत' निकाला था कि हिन्दी जनता तक शुद्ध सात्विक मानसिक भोजन पहुँचे। उन्होंने कभी अपने किसी लेखके प्रकाशनके लिए आग्रह नहीं किया था और इस बातके लिए तो उन्होंने विशेष रूपसे आदेश दिया था कि 'विशाल भारत'में बंगाल और बंगा-लियोंकी प्रशंसा न छपे। जब मैंने उनके जामाता डाक्टर कालिदास नागकी थोड़ी-सी प्रशंसा लिख दी तो उन्होंने मुझसे कहा, "लोग इस पर आशंका कर सकते हैं कि मैंने ऐसा कहा होगा, अथवा अपने सम्बन्धियोंकी प्रशंसा करनेके लिए पत्रका दुरुपयोग किया जा रहा है।"

मैंने यही निवेदन किया—"यह तो मेरे लिए बड़ा बन्धन हो जायगा। कोई व्यक्ति बंगाली है, केवल इसी कारण 'विशाल भारत'में उसका बहिष्कार कैसे कर दूं ?"

बड़े बाबूने कहा, "आप 'विशाल भारत'में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। मैं तो केवल परामर्श ही दे सकता हूँ। आपसे कुछ अधिक अनुभव है, इस विचारसे सलाह देनेका अधिकार तो मुझे है ही। मानना न मानना आपका काम है।"

जबतक मैं 'विशाल भारत'में रहा, मुझे कभी ऐसा प्रतीत नहीं हुआ

कि मैं नौकर हूँ। वस्तुतः मुझे पूर्ण स्वाधीनता थी। हाँ, घाटेकी पूर्तिका दायित्व बड़े बाबूपर था।

× × ×

बड़े बाबू अत्यन्त संकोचशील थे, सम्मानसे वे दूर ही रहते थे। जब वे ७० वर्षके हुए तो उनके प्रशंसक सार्वजनिक रूपसे उनका सम्मान करना चाहते थे, पर उन्होंने केवल इतना ही स्वीकार किया कि उनके प्रेसके कर्मचारी ही व्यक्तिगत रूपसे सम्मेलन कर लें। इसीके अनुकूल बंगीय साहित्य परिषदमें एक छोटा-सा घरेलू उत्सव कर लिया गया। प्रवासी प्रेसके बंगाली मित्रोंने उस उत्सवका प्रधान एक अबंगालीको बनाना ही उचित समझा, और यह भार मुझे सौंप दिया, जिसे मैं अपने जीवन का सबसे बड़ा गौरव मानता हूँ। अपनी क्षुद्रताका जितना अनुभव मुझे उस दिन हुआ, उतना शायद ही कभी हुआ हो। रामानन्दबाबूकी गणना भारतके ही नहीं, संसारके सर्वश्रेष्ठ सम्पादकोंमें की जा सकती थी।

एक बार लीडरके सम्पादक श्री सी० वाइ० चिन्तामणिने बड़े बाबूके सम्बन्धमें लिखते हुए 'नोबलेस्ट' (महानतम), 'बेस्ट' (अतिउत्तम) इत्यादि शब्दोंका प्रयोग कर दिया था। इसपर बड़े बाबूने उन्हें लिखा, "आप तो सुविख्यात् और अनुभवी पत्रकार हैं। ऐसी अत्युक्तिमय भाषा क्यों लिखते हैं ?"

× × ×

एक बार डाक्टर कालिदास नागने किसी प्रकार उनसे इतना वचन ले लिया कि मैं उनसे उनके जीवनके विषयमें कुछ नोट्स ले लूँ। पर संकोचशीलतावश इस वचनको भी उन्होंने वापिस ले लिया। उनके सम्बन्धमें कुछ लिखनेकी मैं तैयारी कर ही रहा था कि उनका पत्र मिला—

"I have had some doubts about the propriety of any such attempt. Today my definite opinion is that I should be allowed to die first and some

years after my death the thing may be done if necessary.

३० सितम्बर, सन् १९४३को बड़े बाबू हमें छोड़कर चल बसे थे और आज इस बातको आठ वर्ष हो गये। वर्षोंसे मेरी इच्छा रही है कि बड़े बाबूका जीवन-चरित हिन्दी जगत्के सम्मुख प्रस्तुत करूँ। अंग्रेज़ी और हिन्दी दोनों भाषाओंमें उनकी एक विस्तृत जीवनी होनी ही चाहिए। उनकी सुपुत्री श्रीमती शान्तादेवीने 'भारत मुक्ति-साधक-रामानन्द चट्टो-पाध्याय' नामक महत्त्वपूर्ण बँगला ग्रन्थके प्रकाशन द्वारा इस श्राद्ध-कार्यको आगे बढ़ाया है, पर अभी इस दिशामें बहुत-सा कार्य करना शेष है।

'विशाल भारत' तो श्री रामानन्द चट्टोपाध्यायके हिन्दी-प्रेमका प्रतीक है ही, पर इस बातका परिचय कितने हिन्दी-भाषियोंको है कि श्री चिन्तामणि घोषको 'सरस्वती'का प्रकाशन आरम्भ करनेकी प्रेरणा श्री रामानन्द चट्टोपाध्यायसे ही प्राप्त हुई थी ? भारतीय पत्रकारोंमें वे शिरोमणि थे और उनका कोई-न-कोई स्मारक हमारे देशमें होना ही चाहिए।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़

सन् १९१४ की बात है। फर्रुख़ाबादकी पबलिक लाइब्रेरीमें अख़बारोंके पन्ने उलट रहा था कि 'माडर्न रिव्यू' में मि० सी० ऐफ० ऐण्ड्रूज़ का एक लेख नज़र आया। उसमें महात्मा गान्धीजीका ज़िक्र था इसलिए उसे पढ़ने लगा। मि० ऐण्ड्रूज़ने लिखा था—

"जब हमारा जहाज़ भूमिके किनारे पहुँचा तो हमें समुद्र तटपर कितने ही हिन्दुस्तानी दीख पड़े। ये सब हम दोनोंको—पियर्सनको तथा मुझे—लेनेके लिए आये हुए थे। श्री पोलकको मैं पहचान गया, क्योंकि मैं उनसे दिल्लीमें मिल चुका था। उन्हें वहाँ उपस्थित देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरा ख़याल था कि वे अबतक जेलमें ही होंगे। मि० पोलकने मुझसे कहा, 'सब नेता छूट गये हैं।' मैंने फौरन ही उनसे पूछा, 'गान्धीजी कहाँ हैं?' महात्माजीने जो निकट ही खड़े हुए थे मुस्कराकर कहा, 'मैं ही गान्धी हूँ।' उनके दर्शन करते ही मेरे अन्तःकरणमें यही प्रेरणा हुई कि उनकी चरण-रज अपने माथेसे लगा लूं। तुरन्त मैंने यही किया। महात्माजीने मन्द स्वरमें कहा, 'कृपया ऐसा न कीजिए। ऐसा करना मुझे लज्जित करना है।' गान्धीजी उस समय सफेद धोती और कुर्ता पहने हुए थे और उनका सिर मुँड़ा हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि वे शोक-सूचक चिह्न धारण किये हुए हैं।"

इस घटनाका वर्णन करनेके बाद श्री ऐण्ड्रूज़ने लिखा था कि उनके इस कार्यपर दक्षिण अफ़्रीकाके गोरे पत्रोंने बड़ा बावैला मचाया था और एक वयोवृद्ध एडीटर साहबने तो अपने आफिसमें बुलाकर उन्हें एक एशियावासीके चरण-स्पर्श करनेपर ख़ासी डांट भी बतलाई थी।

इस घटनाको पढ़कर मैंने उसी दिन अपनी श्रद्धाके पुष्प दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़के व्यक्तित्वपर अर्पित किये थे और तत्पश्चात् पच्चीस-छब्बीस वर्ष——जबतक वे जीवित रहे——मैं अपनी श्रद्धांजलि निरन्तर अर्पित करता रहा।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़के दर्शन करनेका सौभाग्य मुझे ३ मई सन् १९१८ को कलकत्तेमें कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुरके जोरासंकोवाले भवनपर हुआ था। 'प्रवासी भारतवासी'की भूमिका लिखानेके लिए मैं उनकी सेवामें उपस्थित हुआ था। घंटेभर बात-चीत करनेके बाद उन्होंने पूछा, "क्या शान्तिनिकेतन नहीं देखोगे?" मैंने कहा, "क्यों नहीं? मैं तो उसे एक तीर्थ-स्थान समझता हूँ।" तत्पश्चात् मैं बोलपुर गया और कई दिन शान्तिनिकेतनमें रहा। उसी समय सर्व-प्रथम गुरुदेवके भी दर्शन प्राप्त हुए थे। आज ३२ वर्ष बाद भी उन दिनोंकी मधुर स्मृति ज्यों-की-त्यों ताज़ी है। मि० ऐण्ड्रूज़ने चार-पांच घंटे मेरी पुस्तकके सुननेमें व्यय किये और तत्पश्चात् तीन-चार घंटे उसकी भूमिकाके लिखनेमें। इस प्रकार उनका उस दिनका सर्वोत्तम समय मेरे लिए ही व्यय हो गया। शान्तिनिकेतनके उस युगका क्या कहना, जब वहाँ गुरुदेव, बड़े दादा, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़, शास्त्री महाशय (पं० विधुशेखर भट्टाचार्य) और आचार्य क्षितिमोहन सेन विद्यमान थे। अब पहले तीन तो स्वर्गवासी हो चुके हैं और शेष दोनों महानुभाव वहाँसे अवकाश प्राप्त कर चुके हैं।

तत्पश्चात् जून सन् १९२० में मुझे फिर शान्तिनिकेतन जाना पड़ा और इस बार मैं दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़के जीवन-चरितका मसाला संग्रह करनेके उद्देश्यसे वहां गया था। पन्द्रह जूनकी बात है। मैं प्रातःकालके समय उनकी सेवामें उपस्थित हुआ था। उन्होंने कहा, "आज मैं तुम्हारे ही विषयमें सोचता रहा हूँ।" मैंने विनम्रतापूर्वक पूछा, "मेरे बारेमें आपने क्या विचार किया है?" श्री ऐण्ड्रूज़ बोले, "मेरा विचार है कि तुम अपनी राजकुमार कालेज इन्दौरकी नौकरी छोड़कर शान्तिनिकेतन चले

आओ।" मैंने निवेदन किया, "मेरे वृद्ध माता-पिता हैं, कुटुम्ब है और फिर जीविकाका प्रश्न भी है।"

श्री ऐण्ड्रूज़ने उस समय बड़ी सहृदयतापूर्वक कहा, "अपने पिताजीसे कहना, ऐण्ड्रूज़को मेरी ज़रूरत है।" इन शब्दोंने मेरे पैर ही उखाड़ दिये और मैं अपनी नौकरी छोड़कर अगस्त सन् १९२० में शान्तिनिकेतन पहुँच गया।

शान्तिनिकेतनमें मुझे चौदह महीने तक दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़की सेवामें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा कर्तव्य था उनके प्रवासी भारतीय-सम्बन्धी कार्यमें उनकी सहायता करना; पर किसीपर शासन करना मि० ऐण्ड्रूज़के स्वभावके सर्वथा प्रतिकूल था और प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण स्वाधीनता देनेमें उनका दृढ़ विश्वास था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था, "तुम इसी 'वेणु कुंज' में इसी छप्परके नीचे बैठकर मेरे विरोधमें लेख लिख सकते हो। अपनी अन्तरात्माके अनुसार जो भी ठीक जँचे वही लिखो।" जब मैं सात-साढ़ेसात बजे उनके स्थान 'वेणु कुंज' पर पहुँचता, वे दो-ढाई घंटे काम कर चुके होते थे। दोपहरको भी, जब अन्य अनेक व्यक्ति विश्राम करते थे, मि० ऐण्ड्रूज़ अपना काम बराबर जारी रखते थे। उनके कामके घंटे १४–१५ से कम कभी न होते और प्रतिदिन सर्वथा थक कर जब वे कहते, "आजके दिन तो हम लोगोंने ठीक काम किया", तो मुझे अपने ऊपर लज्जा आती, क्योंकि मैं छः-सात घंटेसे अधिक काम कर ही नहीं पाता था।

शामके चार बजे का समय है। काग़ज़ और क़लम लिये हुए लम्बी-लम्बी डग भरते हुए मि० ऐण्ड्रूज़ डाकखानेकी ओर भागे जा रहे हैं। डाक निकलनेका वक्त हो गया है, लेकिन चिट्ठियाँ लिखना अबतक समाप्त नहीं हुआ।

कभी वे आठ-आठ बार अपने ही लेखकी प्रति करते हुए नज़र आते थे, कभी घोर दोपहरीमें इधर-से-उधर जाते हुए। बँगलामें एक लोको-

क्ति है—पागल कुत्ते और अंग्रेज़ ही दोपहरीमें भागते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस लोकोक्तिको सुनकर श्री ऐण्डूज़ खूब हँसते थे।

रातका एक बजा है। शान्तिनिकेतनमें सर्वत्र सन्नाटा है। बिजलीकी रोशनी कभीकी बन्द हो चुकी है, लेकिन 'वेणुकुंज' में प्रकाश दीख पड़ता है। मेज़पर डिट्ज़ लालटैन रखे हुए श्री ऐण्डूज़ लेख लिख रहे हैं! क्यों? कल २५ तारीख है और 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादकने न्यूज़ीलैण्डके प्रवासी भारतीयोंके विषयमें लेख माँगा है।

बाँसके वृक्षोंके निकट एक छोटा-सा घर है। न उसमें कुछ सजावट है, न दिखावट। समाचार-पत्रोंका ढेर लगा हुआ है और किताबें तितर-बितर इधर-की-उधर पड़ी हैं। तीन-चार कुर्सियाँ पड़ी हुई हैं और कुछ मूढ़े भी। एक-दो कुर्सियाँ तो ऐसी हैं जिनपर बैठना ख़तरेसे खाली नही। एक कुर्सीका निर्बल शरीर किसी रस्सीके बल पर थमा हुआ है। मेज़ पर कोई कपड़ा नहीं। उस पर माता-पिताके चित्र रखे हुए हैं। शान्तिनिकेतनके विद्यार्थियोंके भेंट किये हुए फूल भी हैं। दावात, होल्डर, चाक़ू, किताब, अख़बार और छोटा-सा सन्दूक़ भी उसीपर रखा हुआ है। समाचार-पत्रोंके इस गड़बड़ समुद्रमें श्री ऐण्डूज़का चश्मा खो गया है और घबराये हुए आप इधर-उधर तलाश कर रहे हैं! पूछते हैं, "तुमने हमारा चश्मा तो नहीं देखा?"

एक बार जब गान्धीजी कलकत्तेकी स्पेशल कांग्रेसके बाद शान्तिनिकेतन पधारे थे, नियमानुसार मि० ऐण्डूज़का चश्मा खो गया। घबराते हुए वे गांधीजीके कमरेमें आये और बोले, "मैं आपसे बातचीत करने आया था। कहीं मेरा चश्मा तो नहीं रह गया?" मौलाना शौकतअलीके चश्मेका घर वहीं रखा हुआ था। गांधीजीने मि० ऐण्डूज़से कहा, "देखिये, यह तो नहीं है?" मि० ऐण्डूज़ने चश्मा निकालकर लगा लिया और कहा, "हाँ, बस यही है।" फिर आपने उस चश्मेके घरमें रखा हुआ एक तार देखा, जो मौलानाके नाम था। तब आप बोले, "यह चश्मा मेरा नहीं है।

यह तो मौलाना शौकतअलीका होगा।" गांधीजी और पूज्य कस्तूरबा इत्यादि जो भी व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे, खूब खिलखिलाकर हँसने लगे। फिर बाने एक चश्मेका घर देते हुए कहा, "देखो, इसमें तो नहीं है तुम्हारा चश्मा ?"

श्री ऐण्ड्रूज़ने चश्मेका घर खोला तो उसमें कोई चश्मा था ही नहीं। वह खाली था। श्री ऐण्ड्रूज़ लज्जित हो गये और फिर अट्टहास हुआ ! गांधीजीको खूब हँसते हुए देखकर मि० ऐण्ड्रूज़ बोले, "मेरा तो चश्मा खो गया है और आप लोग हँस रहे हैं ! इसमें हँसनेकी कौन-सी बात है ?" गांधीजीने फिर हँसकर कहा, "चश्मा तुम्हारा खो गया है, हमारा नहीं। हमारे लिए तो यह हँसीकी बात ही है।"

एक बार मि० ऐण्ड्रूज़को ज्वर आ गया; पर उस दशामें भी उन्हें विश्राम कहाँ ! उन्होंने बोलकर तीस-बत्तीस पत्र लिखा डाले !

यह देखकर अत्यन्त दुःख होता था कि बहुत दिनों तक हमारे देशवासी मि० ऐण्ड्रूज़को ब्रिटिश सरकारका खुफिया ही समझते रहे और उधर भारत सरकार भी उनपर निरन्तर अविश्वास ही करती रही। जहाँ कहीं वे जाते, सी० आई० डी० के आदमी उनका पीछा करते। सन १९०७ में उन्होंने खुद एक आदमीको, जो खुफिया पुलिसका था, रँगे हाथ पकड़ लिया था। वह उनकी मेज़की दराजमें हाथ डाले हुए था ! जब मि० ऐण्ड्रूज़ने उसे धमकाया तो डर कर उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया कि पुलिस विभागने उसे भेजा था। जब मि० एण्ड्रूज़ने दिल्लीके कमिश्नर साहबको इस बारेमें क्रोधपूर्ण पत्र लिखा तो उनका उत्तर आया, "वह आदमी मेरी पुलिसका नहीं था।"

पूर्व अफ्रीकामें तो रेल-यात्राके समय एक स्टेशनपर गोरे लोगोंने मि० ऐण्ड्रूज़की बड़ी दुर्दशा की थी। उनको अपने डिब्बेसे घसीटकर वे प्लेटफार्मपर लाना चाहते थे और मि० ऐण्ड्रूज़ने लोहेकी जंजीर पकड़ रखी थी। उनकी दाढ़ी पकड़ कर खूब नोची गई। इस दुर्घटनासे उन्हें

ज्वर हो आया था। बादको यह प्रश्न ब्रिटिश पार्लामेंटमें भी उठाया गया था।

शान्तिनिकेतनमें भी कितने ही व्यक्ति मि० ऐण्ड्रूज़पर अविश्वास करते थे और महात्माजीने इस अविश्वासको अनेक अंशोंमें दूर किया था।

एक बार पूर्व अफ़्रीकाके 'डेमोक्रेट' नामक भारतीय पत्रने मि० ऐण्ड्रूज पर यही नीचतापूर्ण आक्षेप इतने भद्दे ढंगपर किया था कि वे तिलमिला उठे थे। फिर अमेरिकामें भी यही हुआ था। पर वे इस निन्दाके अभ्यस्त हो चुके थे और उन्होंने उसे शान्तिपूर्वक सहनेका ही प्रयत्न किया। फरवरी १९३० में उन्होंने अपने पत्रमें मुझे लिखा था—

"दरअसल लोगोंमें मेल-जोल कराना बहुत ही मुश्किल काम है। पर यह किसने कहा था कि यह आसान होगा? मैंने अपने ऊपर किये हुए इस आक्षेपके बारेमें किसीको नहीं लिखा, क्योंकि उसे भुला देना ही ठीक होगा। दुर्भाग्यकी बात है कि इस प्रकार के आक्षेपसे महान अहित होगा, यद्यपि अन्तमें इससे कुछ भलाई ही होगी। मुझे एक बातकी खुशी है, वह यह कि इस बार मैं वैसा उद्विग्न नहीं हुआ, जैसा पूर्व अफ़्रीकाके 'डेमोक्रेट' वाले मामलेमें हुआ था। इस बार मैं धैर्य धारण कर सका और शान्त भी रहा और गीता तथा 'निष्काम कर्म' की महिमाको इस बार मैंने बेहतर तौर पर समझा।"

इस प्रकारके अविश्वासमय वातावरणमें मि० ऐण्ड्रूज़को बहुत वर्षों तक काम करना पड़ा। उनके जीवनके पूरे ३६ वर्ष भारतभूमिकी सेवा करते हुए बीते। यदि उनकी समस्त सेवाका पूरा-पूरा विवरण तैयार किया जाय तो भारतके इने-गिने नेताओंको छोड़कर मि० ऐण्ड्रूज़का कार्य किसीसे भी पीछे न रहेगा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ भारतीय नेता स्वदेशके लिए तप और त्याग कर रहे थे, श्री ऐण्ड्रूजने मनुष्यताके उच्चतर धरातलपर इस भूमिकी सेवा की थी।

सन् १९२० में गांधीजीने 'भारतभक्त ऐण्ड्रूज' की भूमिकामें लिखा

था—"यदि धृष्टता न समझी जाय तो मैं अपना यह विश्वास लिपिबद्ध कर देना चाहता हूँ कि सी० एफ० ऐण्ड्रूजसे ज़्यादा सच्चा, उनसे बढ़कर विनीत और उनसे अधिक भारतभक्त इस भूमिमें कोई दूसरा देश सेवक विद्यमान नहीं।"

और हमारे प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरूने भी आत्मचरितमें बड़ी श्रद्धापूर्वक इस बातका ज़िक्र किया है कि मि० ऐण्ड्रूजकी पुस्तक 'इंडियन इंडिपेंडेंस—इट्स इमीडिएट नीड' (भारतीय स्वाधीनता और इसकी तुरन्त आवश्यकता) ने भारतीय भावनाओंको बड़ी खूबीके साथ प्रकट करके भारतीयोंकी हृत्तंत्रीको झंकृत कर दिया था।

यह बात भी भूलनेकी नहीं है कि दो बार मि० ऐण्ड्रूजने महात्माजीके उपवासके दिनोंमें उनके प्राण बचानेमें बड़ी भारी सहायता दी थी। जब बन्धुवर श्री श्रीराम शर्माने सेवाग्राममें महात्माजीसे पूछा, "ऐण्ड्रूज साहबने भारतकी जो सेवाएँ की हैं, उनमें मुख्य क्या है?" तो उन्होंने उत्तर दिया, "मेरे पास अवकाश हो तो मैं उसका गुणगान ज़िन्दगी भर करूँ।"

जनवरी सन् १९४० में मुझे शान्तिनिकेतन जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तुलसी लाइब्रेरीके मन्त्री श्रीयुत धावलेजी मेरे साथ थे। इस बार मैंने अपने कमरेसे दीनबन्धु ऐण्ड्रूजके कई चित्र लिये थे। अकस्मात एक दिन मेरे मुँहसे निकल गया, "आज तो मेरा जन्म-दिवस है।" मैं योंही मज़ाक़ कर रहा था, यद्यपि वह था जन्म-दिवस ही। मि० ऐण्ड्रूज बोले, "तो मैं तुम्हें अच्छी चाय पिलाऊँगा और कुछ भेंट भी दूंगा।" मैंने इसे मज़ाक़ ही समझा, पर मि० ऐण्ड्रूजने सचमुच बहुत बढ़िया चाय बनवाई और उसके साथ मिठाई और फलोंका भी प्रबन्ध किया। मुझे अपने मज़ाक़ पर लज्जित होना पड़ा, पर चौबे होनेके कारण मैं मिठाईका मोह छोड़ नहीं सका। मैंने डटकर भोजन किया। उस दिन भी मि० ऐण्ड्रूज दिन भर एक लेख लिखते रहे, जो शान्तिनिकेतनके हिन्दी-

भवनपर था और जब शामको मैं पहुँचा तो कहा, "यह भेंट तुम्हारे जन्मदिवसके लिए है।" और फिर एक दूसरी भेंट भी दी, वह थी 'क्राइस्ट इन साइलेंस' ('शांतिमें ईसा') नामक अपनी पुस्तक।

अपनी भूलसे मैं उस ग्रंथको उनकी मेज़पर ही छोड़ आया। रातको साढ़े आठ बजे थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा बन्धुवर हज़ारीप्रसादजी द्विवेदीके साथ मैं हिन्दी-भवनमें बैठा हुआ था कि उधरसे लालटेन हाथमें लिये श्रीऐण्ड्रूज आते हुए नज़र आये। पहुँचते ही उन्होंने उलाहना दिया कि अपनी भेंट तुम वहीं छोड़ आये थे! और फिर द्विवेदीजीको मेरे जन्म-दिवसकी बात भी सुना दी। द्विवेदीजीको भी मज़ाक़ सूझा। वे बोले, "इन्होंने हमें बताया भी नहीं, चुपचाप ही सब मिठाई खा ली!" ख़ूब हँसी हुई। मेरी छड़ी वहीं रखी थी। श्री ऐण्ड्रूजने उसे उठाकर पीठपर छुआते हुए कहा—"यह भूल तुमने क्यों की? अपने जन्मदिवसकी बात इनसे क्यों छिपाई?" हम सब ख़ूब हँसते रहे।

अपनी लालटेन लिये हुए मि० ऐण्ड्रूज अपनी कुटीको लौट गये। आचार्य क्षितिमोहन सेनने कहा, "कितने प्रेमी जीव हैं ये!" मैं उन्हें जाते हुए देख रहा था। वही उनके अन्तिम दर्शन थे। उस दिन १२ जनवरी थी। ५ अप्रैल १९४० को उनका देहान्त हो गया।

अप्रैल १९५०]

स्वर्गीय प्रेमचंदजी

"मेरी आकाँक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय तो सबसे बड़ी आकाँक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राममें विजयी हों। धन या यशकी लालसा मुझे नहीं रही। खाने भरको मिल ही जाता है। मोटर और बँगलेकी मुझे हविस नहीं। हाँ, यह ज़रूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटिकी पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही है। मुझे अपने दोनों लड़कोंके विषयमें कोई बड़ी लालसा नहीं है। यही चाहता हूँ कि वह ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादेके हों। विलासी, धनी खुशामदी सन्तानसे मुझे घृणा है। मैं शान्तिसे बैठना भी नहीं चाहता। साहित्य और स्वदेशके लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ, रोटी-दाल और तोला भर घी और मामूली कपड़े मयस्सर होते रहें।"

[प्रेमचन्दजीके ३–६–३० के पत्रसे]

"जो व्यक्ति धन-सम्पदामें विभोर और मगन हो, उसके महान पुरुष होनेकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमीको धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझपर उसकी कला और बुद्धिमत्ताकी बातोंका प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख़्सने मौजूदा सामाजिक व्यवस्थाको—उस सामाजिक व्यवस्थाको, जो अमीरों द्वारा ग़रीबोंके दोहनपर अवलम्बित है—स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार किसी भी बड़े आदमीका नाम, जो लक्ष्मीका कृपापात्र भी हो, मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मनके इन भावोंका कारण जीवनमें मेरी निजी असफलता ही हो। बैंकमें अपने नाममें मोटी रक़म जमा देखकर शायद मैं भी वैसा ही होता, जैसे दूसरे हैं—मैं भी प्रलोभनका सामना न कर सकता; लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और क़िस्मतने

मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रोंके साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।"[१]

प्रेमचन्दजीकी याद आते ही उनके उपर्युक्त दोनों पत्रोंका, जो ५॥ वर्षके अन्तरपर लिखे गये थे, स्मरण हो आया। ये दोनों पत्र प्रेमचन्दजीके जीवनके उद्देश्यों और उनकी आकाँक्षाओंको प्रकट करते हैं। यदि प्रेमचन्दजीने सरकारी नौकरी न छोड़ी होती, तो वे डिप्टीइन्सपैक्टर ऑफ स्कूल्स अथवा असिस्टेण्ट इन्सपैक्टर होकर रिटायर होते; पर उन्होंने त्याग और तपका जीवन अंगीकार किया था और अपनी आकांक्षाओंको 'रोटी-दाल, तोला भर घी और मामूली कपड़े' तक ही सीमित कर लिया था। ग़रीबीके इस व्रतको ग्रहण करनेके कारण ही वे हमारे साहित्यके लिए ऐसे अमर ग्रन्थ प्रदान कर गये, जिनकी वजहसे हम आज अन्य भाषा-भाषियोंके सम्मुख अपना मस्तक ऊँचा कर सकते हैं।

इन पंक्तियोंके लेखकपर प्रेमचन्दजीकी कृपा थी, और वह अपने जीवनके पवित्रतम संस्मरणोंमें प्रेमचन्दजीकी स्मृतिकी गणना करता है। सन् १९२४ की बात है। प्रेमचन्दजीके प्रथम-दर्शन करनेका सौभाग्य मुझे लखनऊमें प्राप्त हुआ था। उन दिनों वे शायद 'रंगभूमि' नामक

[१] "I cannot imagine a great man rolling in wealth. The moment I see a man rich, all his words of art and wisdom are lost upon me. He appears to me to have submitted to the present social order, which is based on exploitation of the poor by the rich. Thus any great name not dissociated with mammon does not attract me. It is quite probable this frame of mind may be due to my own failure in life. With a handsome credit balance I might have been just as others are—I could not have resisted the temptation. But I am glad nature and fortune have helped me and my lot is cast with the poor. It gives me spiritual relief."

[प्रेमचन्दजीके १-१२-३५ के पत्रका एक अंश]

उपन्यास लिख रहे थे। उनके घरपर ही उपस्थित हुआ था और उनके साथ सड़कोंपर कुछ दूर प्रातः कालके समय टहला भी था। उस समय उन्होंने अपने बाल्यावस्थाके अनुभव, जब कि वे किसी मौलवी साहबसे पढ़ते थे, सुनाये थे। प्रेमचन्दजीके एक गुणने मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया था, वह था उनमें साम्प्रदायिकताका सर्वथा अभाव। हिन्दू-मुस्लिम एकताके वे बड़े हामी थे, और दोनोंके सांस्कृतिक मेलके लिए उन्होंने जीवन-भर परिश्रम भी किया था। उस थोड़े-से समयमें, जो उनके साथ व्यतीत हुआ, प्रायः इसी विषयपर बातचीत होती रही।

इसके बाद पिछले बारह वर्षमें प्रेमचन्दजीसे मिलनेके दो-तीन अवसर और मिले और पत्र-व्यवहार तो निरन्तर चलता रहा। बातचीतकी तरह उनका पत्र-व्यवहार भी दिल खोलकर होता था। दिसम्बर १९३२ में उनके साथ काशीमें दो दिन तक रहनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। इन दो दिनोंमें एक दिन तो प्रातः कालके ११ बजेसे रातके १० बजे तक और दूसरे दिन सवेरेसे शामतक वे अपना सब काम छोड़कर मुझसे बात-चीत करते रहे। इन दो दिनोंमें वे सैकड़ों बार ही हँसे होंगे और सैकड़ों बार ही उन्होंने मुझे हँसाया होगा। उनकी ज़िन्दादिलीका क्या कहना!

फिर कलकत्ते लौटनेपर एक चिट्ठीमें मैंने प्रेमचन्दजीको मज़ाकमें लिखा कि आप श्रीमती शिवरानी देवीजीको एक रिस्टवाच क्यों नहीं ख़रीद देते? इसका उत्तर देते हुए प्रेमचन्दजीने लिखा—

"As to her wrist watch, well, when some enterprising journalist begins to pay her for her contributions she will manage for herself or may be some one may present her with one!"

—'रही उनकी रिस्टवाचकी बात, सो जब कभी कोई उद्योगी पत्रकार उनकी रचनाओंके लिए पारिश्रमिक देना प्रारम्भ करेगा, तो

वे खुद अपने लिए रिस्टवाच ख़रीद लेंगी, या शायद कोई उन्हें एक रिस्ट-वाच भेंट ही कर दे !'

× × ×

प्रेमचन्दजीको कलकत्ते बुलाने और शान्तिनिकेतन ले जानेके लिए कई बार मैंने प्रयत्न किया; पर सफल नहीं हो सका। जब कविवर नागूची जापानसे कलकत्ते पधारे थे, तो मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि वे भी आवें। उसके उत्तरमें उन्होंने लिखा था—

"I had your card and thank for it. How I wish I could attend Naguchi's lectures but can't help. How to leave the family is the problem. The boys are at Allahabad and when I go my better-half must feel so lonely and helpless. If I take her with me, I must have a decent amount to spend. So it is better to be tied down to home than feel the pinch of money."

—'आपका कार्ड मिला। उसके लिए धन्यवाद। क्या ही अच्छा होता, यदि मैं कविवर नागूचीके भाषण सुन पाता ! पर लाचारी है। घरवालोंको यहाँ कैसे अकेला छोड़ दूँ, यही प्रश्न है। लड़के इलाहाबादमें हैं, और यदि मैं बाहर चला जाऊँ, तो मेरी स्त्रीको सूना-सूना-सा लगेगा। और अगर मैं उन्हें साथ लाऊँ, तो ख़र्चके लिए मेरे पास काफी पैसे चाहिएँ। इसलिए आर्थिक संकटका सामना करनेके बजाय यही उत्तमतर है कि मैं घरपर ही बँधा रहूँ।'

शान्ति-निकेतन भी वे इसी कारण नहीं जा सके थे।

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथसे प्रेमचन्दजीका ज़िक्र अनेक बार आया था, और उन्होंने कईबार कहा था कि प्रेमचन्दजीकी चुनी हुई कहानियोंका अनुवाद बँगलामें होना चाहिए। बँगलाके हास्यरसके सुप्रसिद्ध लेखक

श्री परशुराम (श्री राजशेखर बोस) ने भी प्रेमचन्दजीकी कई कहानियाँ पढ़ी थीं और 'पंच परमेश्वर' नामक कहानी उन्हें खास तौरपर पसन्द आई थी।

प्रेमचन्दजी जितने हिन्दीवालोंके थे, उतने ही उर्दूवालोंके भी थे। इस विषयमें उनकी स्थिति अद्वितीय थी। गत वर्ष जब पानीपतमें हाली-शताब्दीमें सम्मिलित होनेका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था, तो वहाँ उर्दूके कई प्रतिष्ठित लेखकों तथा कवियोंसे प्रेमचन्दजीका ज़िक्र आया था। उर्दूके एक विद्वान् लेखकने कहा भी था—"प्रेमचन्दजी तो उर्दूके Classic हो गये हैं। वे तो हमारे ही हैं।"

सी० ऐफ० ऐण्ड्रूज़से प्रेमचन्दजीकी चर्चा कई बार हुई थी। उन्होंने प्रेमचन्दजीकी एक कहानी 'तारा' के अंग्रेज़ी अनुवाद Actress का संशोधन कर दिया था, और यह कहानी 'मार्डन रिव्यू' में छपी भी थी। मि० ऐण्ड्रूज़ प्रेमचन्दजीसे मिलनेके उत्सुक थे, और उनके आदेशानुसार शान्ति निकेतनसे लिखा भी गया था कि वे कलकत्ते पधारें, जहाँ कि मि० ऐण्ड्रूज़ स्वयं आ रहे थे; पर प्रेमचन्दजी नहीं आ सके! मि० ऐण्ड्रूज़ प्रेमचन्द्रजी-की कहानियोंके अंग्रेज़ी अनुवादके संशोधन करनेके लिए और उनके प्रकाशित करानेके लिए तैयार थे। बात दरअसल यह थी कि प्रेमचन्दजी अपनी रचनाओंके अनुवादके विषयमें बिलकुल उपेक्षाकी नीतिसे काम लेते थे। मैं उनकी इस नीतिका घोर विरोधी था। मैंने उनकी सेवामें निवेदन भी किया था कि आपकी रचनाओंका अंग्रेज़ी अनुवाद आपको कीर्ति देनेके लिए नहीं, बल्कि सभ्य जगतके सम्मुख हिन्दीवालोंका गौरव बढ़ानेके लिए होना चाहिए। पत्रके उत्तरमें उन्होंने लिखा था—

"I feel very much obliged to receive your letters and the kind interest you take in my work. But unless I can secure a competent translator it is

no good to trouble Father Andrews for nothing. The time is not yet, perhaps. when the time will come helpers would spring up."

—"आपके पत्रके लिए और आप मेरी रचनाओंमें जो दिलचस्पी लेते हैं, उसके लिए मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ; लेकिन जब तक कि मुझे कोई सुयोग्य अनुवादक न मिल जाय, तब तक पादरी ऐण्ड्रूज़ साहबको व्यर्थके लिए तकलीफ देना ठीक न होगा। शायद अभी इसके लिए वक्त ही नहीं आया, और जब कभी वक्त आवेगा, तो मददगार भी कहीं-न-कहींसे निकल ही आवेंगे।"

यह असम्भव है कि प्रेमचन्दजीकी चुनी हुई रचनाओंका अनुवाद अंग्रेज़ीमें न हो, क्योंकि वर्तमान भारतीय समाजका जैसा जीता-जागता चित्र उनकी रचनाओंमें मिलता है, वैसा अन्यत्र शायद ही मिले। कभी-न-कभी अंग्रेज़ी जाननेवाली जनता प्रेमचन्दजीकी रचनाओंका स्वाद अपनी भाषामें लेनेका प्रयत्न करेगी ही पर यह सौभाग्यपूर्ण अवसर प्रेमचन्दजीके जीवनमें ही आ जाता, तो कितनी अच्छी बात होती!

यद्यपि प्रेमचन्दजी अपनी रचनाओंके अंग्रेज़ी अनुवादके विषयमें उदासीन-से थे; पर अंग्रेज़ी जनताके सम्मुख हिन्दीवालोंकी रचनाएँ तथा व्यक्तित्वके प्रकाशनको आवश्यक समझते थे। एक बार श्रीराय कृष्णदास-जीके मकानपर (शायद यह द्विवेदी-अभिनन्दन-उत्सवका अवसर था) उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि 'लीडर' इत्यादि पत्रोंमें इस विषयपर लिखा करो।

× × ×

प्रेमचन्दजी दिल खोलकर प्रशंसा करते थे और दिल खोलकर निन्दा भी। ऐसे अवसरोंपर अपनी लेखनीपर संयम रखना उन्हें पसन्द नहीं था। इस विषयमें वे स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्माकी नीतिका अवलम्बन करते थे। स्वर्गीय शर्माजीकी पुस्तक 'पद्मपराग' की आलोचना करते हुए

मैंने 'विशाल भारत'में लिखा था—"हमारा विश्वास है कि कठोर शब्द अन्तमें अपने उद्देश्यमें विफल होते हैं। उनके प्रयोगसे इस बातकी आशंका रहती है कि कहीं असाधारण कठोरताके कारण पाठककी सहानुभूति उस व्यक्तिके प्रति न हो जाय, जिसके प्रति उन शब्दोंका प्रयोग किया गया है।"

इसका उत्तर देते हुए शर्माजीने लिखा था—"मुझे डर है कि कृत्रिम —बनावटी—शान्तिके खब्तमें आप लोग—गान्धीपन्थी—वीर, रौद्र और भयानक रसोंका सर्वथा लोप करना चाहते हैं, जो एकदम असम्भव और अव्यवहार्य है। किसी अत्याचारी, नृशंस और क्रूर आदमीकी करतूत-पर क्रोध और घृणा आना स्वाभाविक धर्म है, फिर उसे प्रकट करना क्यों अधर्म है? यह तो एक तरहकी मक्कारी है कि किसी दुष्टपर क्रोध तो आवे इतना कि वह बेताब कर दे, पर उसे शब्दोंमें प्रकट न किया जाय! ऐसा न आज तक हुआ है, न आगे कभी होगा। साहित्यमें सब रस सदासे रहे हैं और सदा रहेंगे। भेड़ियोंके आगे हाथ-पाँव बाँधकर पड़ रहनेका मूर्खता-पूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह किसी कालमें व्यवहार्य नहीं समझा जा सकता है। यह प्राचीन आर्य-संस्कृतिके विरुद्ध है। अस्तु आपका निष्पक्ष फैसला सुनकर भी मेरी यही राय है कि दुष्ट, धूर्त और लोकवंचक लोगोंकी जितनी भी कड़ी भर्त्सना की जाय, उचित है, विहित है। अपने विरुद्ध फैसला सुनकर भू-भ्रमणवादी गैलिलियोने जजसे कहा था—'आपका फैसला सुनकर भी यह कम्बख्त (भूमि) बराबर उसी तरह घूम रही है, ज़रा भी तो नहीं रुकी।' आपका फैसला सुनकर मैं भी यही अर्ज़ करता हूँ कि जनाब! धूर्त और नृशंस व्यक्तिकी पोल खोलना, शब्दोंके कोड़े लगाना, आजसे हज़ार बरस बाद भी विहित समझा जायगा, इसमें ज़रा भी फ़र्क़ नहीं आयगा। आप लोगोंके इस क्लीव-क्रन्दनको—शान्ति-पाठको—कोई न सुनेगा।"

जब श्रीयुत प्रेमचन्दजीको मैंने उनके एक लेखकी कठोरताके विषयमें लिखा, तो उन्होंने उत्तरमें वैसे ही भाव प्रकट किये, जो शर्माजीके पत्रमें

हैं; पर स्वर्गीय शर्माजी तथा प्रेमचन्दजीके प्रति काफ़ी श्रद्धा रखते हुए भी अब भी मेरा यही विश्वास है कि कठोर शब्दोंका प्रयोग न करना ही अच्छा है। एक बार प्रेमचन्दजीने फिर कठोर शब्दोंका प्रयोग किया, तो मैंने फिर उनकी सेवामें निवेदन किया। अबकी बार वे मेरी बातसे कुछ-कुछ सहमत हो गये। उन्होंने अपने पत्रमें लिखा था--

"I am really grateful to you for your most friendly advice. I Cherish no ill will against the person. I rather feel for him. But Hindi readers are too shallow and uncritical that they are always led to believe in the most nonsensical things dinned into their ears. One must tell them the truth. But I shall exercise greater control henceforth."

------'आपकी अत्यन्त मित्रतापूर्ण सलाहके लिए मैं आपका दरअसल कृतज्ञ हूँ। उस व्यक्तिके प्रति मेरे हृदयमें कोई द्वेष नहीं है, बल्कि मैं उसके लिए दुःखित हूँ; पर मुश्किल तो यह है कि हिन्दी-पाठक इतने उथले हैं और सदसद्विवेक-बुद्धिकी उनमें इतनी कमी है कि जो कुछ उनके कानोंमें कोई डाल दे, वे उसीपर विश्वास करनेके लिए तैयार हो जाते हैं! हिन्दी-पाठकोंको तो यह निरन्तर बतलानेकी ज़रूरत है कि सत्य क्या है; लेकिन भविष्यमें मैं अधिक संयमसे काम लूँगा।'

जब 'हंस' भारतीय साहित्य-परिषद्का मुखपत्र बना दिया गया, तो प्रेमचन्दजीने छपे हुए सूचना-पत्रको भेजते समय उसपर लाल स्याहीसे लिख भेजा--

"मुंशीजी (श्री कन्हैयालाल मुंशी)ने तो आपको पत्र लिखे ही हैं। अब मेरा सवाल है।

"फ़क़ीरका सवाल है सभीके ऊपर ;
ज़ुल्म ना ज़ियादती किसीके ऊपर।"

'हंस'के विषयमें उन्होंने बहुत-से पत्र हिन्दी और उर्दू-लेखकोंको लिखे थे। उर्दू-लेखकोंने तो सहृदयतापूर्वक उनके पत्रोंका स्वागत किया और उत्तर भी दिये; पर हिन्दीके महारथियोंने जो-कुछ किया, वह उन्हींके शब्दोंमें सुन लीजिए—

"Urdu writers have replied to my invitation promptly and courteously, whereas I have reccived few replies to the numerous letters I have written to Hindi Maharathis. B. Maithili Sharanji has been the only person to respond, others have not even acknowledged the letters. This is thc mentality of our Hindi writers."

—'उर्दू-लेखकोंने तो मेरे निमन्त्रणका तुरन्त ही और विनम्रतापूर्वक जवाब दिया है; लेकिन जो बहुत-सी चिट्ठियाँ मैंने हिन्दीके महारथियोंकी सेवामें भेजी थीं, उनमें बहुत कमके जवाब आये हैं ! अकेले बाबू मैथिली-शरणजी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने उत्तर दिया है; दूसरोंने तो चिट्ठीकी स्वीकृति भी नहीं लिखी ! हमारे हिन्दी-लेखकोंकी यह मनोवृत्ति है।'

'जागरण'के मज़ाक़के कालमोंमें दो-एक बातें मेरे ख़िलाफ़ निकल गई थीं। मैंने उनकी शिकायत की। उसके उत्तरमें प्रेमचन्दजीने एक बड़ा प्रेमपूर्ण तथा उपदेशप्रद पत्र लिख भेजा था। उस पत्रके प्रशंसामय अंशोको छोड़कर कुछ बातें यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

"जब कभी मौक़ा पड़ा है, मैं हमेशा आपका पक्ष लेकर लड़ा हूँ, और मैंने आपको उसी दृष्टिसे लोगोंके सम्मुख उपस्थित करनेका प्रयत्न किया है, जिस दृष्टिसे मैं आपको देखता हूँ। में इस बातसे इनकार नहीं करता कि साहित्य-सेवियोंमें कुछ लोग ऐसे हैं, जो आपको बदनाम करते हैं और आपकी ईमानदारीको भी माननेको तैयार नहीं होते। इतना ही नहीं,

कुछ महानुभाव तो इससे भी आगे बढ़ जाते हैं ! लेकिन कौन व्यक्ति ऐसा है, जिसके छिद्रान्वेषी न हों ? मैं स्वयं निन्दकोंसे घिरा हुआ हूँ, जो मुझपर हमला करनेका कोई मौक़ा नहीं चूकते । दुर्भाग्यवश हमारे साहित्यकारोंमें न तो विचारोंकी व्यापकता--उदारता--है और न सहयोगकी भावना । हमारे यहाँ एक दल ऐसा पैदा हो गया है, जिसे दूसरोंकी वर्षोंके परिश्रमसे अर्जित कीर्तिको मटियामेट करनेमें ही मज़ा आता है । हमें अपनी आत्माको पवित्र रखना चाहिए, और यही सबसे बड़ी बात है । जान पड़ता है कि आप मज़ाक़के छींटोंको प्रायः गम्भीर मान बैठते हैं· · · ·लेकिन जब कभी कोई किसीके उद्देश्यको ही कलुषित बताने लगता है, तब मामला गम्भीर हो जाता है । किसीके उद्देश्यपर शक करनेको मैं किसी भी हालतमें सहन नहीं कर सकता । निर्दोष छींटोंकी आपको परवा न करनी चाहिए । यदि आप इतने असहनशील हो जायँगे, तब तो आप अपने निन्दकोंको और भी उत्साहित करेंगे कि वे आपकी पीठमें काँटे चुभोयें । खिले हुए चेहरेसे आप उन लोगोंका सामना कीजिए । एक ज़माना था, जब किसी अमित्रतापूर्ण हमलेसे मुझे कई-कई रात नींद न आती थी; लेकिन वह ज़माना गुज़र चुका है, और अब मैं अपने-आपको ज़्यादा अच्छी तरह समझता हूँ ।"[१]

---

[१] I have always fought on your behalf whenever any occasion has risen and have tried to interpret you as I see you. I do not deny that among literary men there are some who disparage you and do not give you the credit for honesty of purpose. Nay, some go far more than that. But who has not got cavillers? I myself am surrounded by decoraters, who would not miss an opportunity to hit me. Unfortuately our literary workers have not got the breadth of view and the spirit of fellowship. There is a class of men who delight

मैं एक लेख लिखना चाहता था—'भविष्य किनका है ?' और उस लेखमें हिन्दीके भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंके प्रतिभाशाली कार्यकर्ताओंका संक्षिप्त परिचय देना चाहता था। इस विषयपर मैंने प्रेमचन्दजीकी सम्मति पूछी थी, सो उन्होंने विस्तारपूर्वक लिख भेजी थी।

× × ×

सन् १९३०में मैंने एक पत्रमें उनसे बहुत-से प्रश्न किये थे। उनमें कुछ प्रश्न ये थे—(१) आपने गल्प लिखना कब प्रारम्भ किया था ? (२) आपकी सर्वोत्तम पन्द्रह गल्पें कौन-कौन हैं ? (३) आपपर किस लेखककी शैलीका प्रभाव विशेष पड़ा ? (४) आपको अपनी रचनाओंसे अब तक कितनी आय हुई है ? इन प्रश्नोंके उत्तरमें प्रेमचन्दजीने लिख भेजा था—

"(१) मैंने १९०७में गल्प लिखना शुरू किया। सबसे पहले १९०८में मेरा 'सोज़ेवतन', जो पाँच कहानियोंका संग्रह है, ज़माना-प्रेससे निकला था; पर उसे हमीरपुरके कलक्टरने मुझसे लेकर जला डाला था। उनके खयालमें वह विद्रोहात्मक था, हालाँ कि तबसे उसका अनुवाद कई संग्रहों और पत्रिकाओंमें निकल चुका है।

---

in ruining the reputation others have taken years to build up. But what of that? We have got to keep our conscience clear and it is all that matters. You seem to take the humorous touches rather too seriously The matter grows serious when one imputes motives. This I would never tolerate in any case. Innocent flings you need not mind. If you are so touchy, you will give an impetus to detractors to prick your back. Face them with a smile upon your face. There was a time when an unfriendly cut kept me awake nights together. But that stage has passed and I know myself much better now."

(२) इस प्रश्नका जवाब देना कठिन है । २००से ऊपर गल्पोंमें कहाँ तक चुनूँ, लेकिन स्मृतिसे काम लेकर लिखता हूँ—(१) बड़े घरकी बेटी, (२) रानी सारंधा, (३) नमकका दारोग़ा, (४) सौत, (५) आभूषण, (६) प्रायश्चित्त, (७) कामना, (८) मन्दिर और मसजिद, (९) धासवाली, (१०) महातीर्थ, (११) सत्याग्रह, (१२) लांछन, (१३) सती, (१४) लैला और (१५) मन्त्र ।

(३) मेरे ऊपर किसी विशेष लेखककी शैलीका प्रभाव नहीं पड़ा । बहुत-कुछ पं० रतननाथ दर लखनवी और कुछ-कुछ डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुरका असर पड़ा है ।

(४) आयकी कुछ न पूछिये । पहलकी सब किताबोंका अधिकार प्रकाशकोंको दे दिया । 'प्रेम-पचीसी', 'सेवासदन', 'सप्त-सरोज', 'प्रेमाश्रम', 'संग्राम' आदिके लिए एक मुश्त तीन हज़ार रुपये हिन्दी-पुस्तक एजेन्सीने दिये । 'नवनिधि'के लिए शायद अब तक २००) मिले हैं । 'रंगभूमि'के लिए १८००) दुलारेलालजीने दिये । और संग्रहोंके लिए सौ-दो-सौ मिल गये । 'कायाकल्प', 'आज़ाद कथा', 'प्रेमतीर्थ', 'प्रेम-प्रतिमा', 'प्रतिज्ञा' मैंने ख़ुद छापी; पर अभी तक मुश्किलसे ६००) रुपये वसूल हुए है, और प्रतियाँ पड़ी हुई हैं । फुटकर आमदनी लेखोंसे शायद २५) माहवार हो जाती हो; मगर इतनी भी नहीं होती । मैं अब इस ओर 'माधुरी'के सिवा कहीं लिखता ही नहीं । कभी-कभी 'विशाल भारत' और सरस्वती'में लिखता हूँ । बस । उर्दू-अनुवादोंसे भी अब तक शायद दो हज़ारसे अधिक न मिला होगा । ८००) में 'रंगभूमि' और 'प्रेमाश्रम' दोनोंका अनुवाद दे दिया था । कोई छापनेवाला ही न मिलता था ।"

'हंस' और 'जागरण'में प्रेमचन्दजीको निरन्तर घाटा ही होता रहा, और कभी-कभी तो यह घाटा दो सौ रुपये महीनेसे भी अधिकका हो जाता था । इसके कारण वे अत्यन्त चिन्तित रहते थे—

"It is a pity none of my ventures are yet paying their way. Hans is not costing me much, but Jagaran is proving unbearable. How to get out of the situation is taxing my brains. I am losing some Rs. 200 every month. How long can this go on? Having done the folly of starting it once, sanity stands in the way of putting an end to it. How will others chuckle and giggle?.....If I had the courage to stop these journals I would be saved all this worry, but I cannot master it........"
—'खेदकी बात है कि मेरा कोई भी प्रयत्न अब तक स्वावलम्बी नहीं हो सका। 'हंस'में मुझे बहुत नहीं खर्च करना पड़ता; लेकिन 'जागरण'का बोझ असह्य हो रहा है। इस झंझटसे निकला कैसे जाय, इसी चिन्तामें दिमाग़ चक्कर खा रहा है। मैं क़रीबन २००) प्रतिमास घाटा दे रहा हूँ। यह कब तक चल सकता है? एक बार इसे जारी करनेकी मूर्खता कर चुकनेके बाद अब इसका ख़ात्मा करनेमें मेरी सुबुद्धि बाधक होती है। अन्य लोग इसपर कैसे हँसेंगे और खिल्ली उड़ायेंगे?···· यदि मुझमें इन दोनों पत्रोंको बन्द कर देनेकी हिम्मत होती, तो मैं इन तमाम परेशानियोंसे बच जाता; लेकिन मैं इतनी हिम्मत इकट्ठी नहीं कर पाता।'

मेरी यह आकाँक्षा कि कभी प्रेमचन्दजी और कवीन्द्र रवीन्द्रनाथको बातचीत करते हुए सुनूं, मनकी मनमें ही रह गई! प्रेमचन्दजीको शान्ति-निकेतन बुलानेके लिए कई बार प्रयत्न किया, पर इसमे मुझे सफलता नहीं मिली। एक बार तो मुझे यह आशंका हो गई थी कि उन्होंने जान-बूझकर मेरे निमन्त्रणकी उपेक्षा की है। जब काशीमें जाकर मैंने उनसे पूछा कि आप शान्ति-निकेतन क्यों नहीं गये, तब उन्होंने बतलाया कि वे

अपनी धर्मपत्नी तथा बच्चोंको छोड़कर अकेले कविवरके दर्शनार्थ नहीं जाना चाहते थे और इतना पैसा उनके पास था नहीं कि सबकी यात्राका प्रबन्ध कर सकते ! हिन्दीके सर्वश्रेष्ठ कलाकारकी इस आर्थिक परिस्थितिको सुनकर मुझे हार्दिक दुःख हुआ था । उस समय मैंने 'विशाल भारत'में लिखा था--

"प्रेमचन्दजीको अपनी पुस्तकोंसे जो आमदनी होती है, उसका एक अच्छा भाग 'हंस' और 'जागरण'के घाटेमें चला जाता है। कितने ही पाठकोंका यह अनुमान होगा कि प्रेमचन्दजी अपने ग्रन्थोंके कारण धनवान हो गये होंगे; पर यह धारणा सर्वथा भ्रमात्मक है। हिन्दीवालोंके लिए सचमुच यह कलंककी बात है कि उन-जैसे सर्वश्रेष्ठ कलाकारको आर्थिक संकट बना रहता है। सम्भवतः इसमें कुछ दोष प्रेमचन्दजीका भी है, जो अपनी प्रबन्ध-शक्तिके लिए प्रसिद्ध नहीं और जिनके व्यक्तित्वमें वह लोह दृढ़ता भी नहीं, जो उन्हें साधारण कोटिके आदमियोंके शिकार बननेसे बचा सके। कुछ भी हो, पर हिन्दी-जनता अपने अपराधसे मुक्त नहीं हो सकती। हमें इस बातकी आशंका है कि आगे चलकर हिन्दी-साहित्यके इतिहास-लेखकको कहीं यह न लिखना पड़े--'दैवने हिन्दीवालोंको एक उत्तम कलाकार दिया था, जिसका उचित सम्मान वे न कर सके।'" ये पंक्तियाँ जनवरी सन् १९३२में लिखी गई थीं। दुर्भाग्यवश वे सत्य प्रमाणित हो रही हैं।

प्रेमचन्दजीके जीवनमें हम लोग उनका कुछ भी सम्मान न कर सके, यद्यपि वे ख़ुद सम्मानके भूखे नहीं थे। जब नागपुर-सम्मेलनके अवसरपर मैंने उनके सभापति होनेका प्रस्ताव 'विशाल भारत'में किया था, तो उन्होंने एक पत्रमें मुझे अपनी अनिच्छा तथा उदासी-नताका वृत्तान्त लिख भेजा था; पर हम लोगोंका तो कर्तव्य था कि उनका सम्मान करके स्वयं अपनेको तथा अपनी संस्थाको गौरवान्वित करते।

प्रेमचन्दजीकी विद्वत्ता, प्रतिभा अथवा लेखन-शक्तिके विषयमें कुछ लिखनेके लिए यहाँ न तो स्थान ही है और न इन पंक्तियोंके लेखकमें इतनी योग्यता कि वह इस गम्भीर कार्यको सफलतापूर्वक कर सके। हाँ, प्रेमचन्दजीकी सहृदयताके विषयमें दो शब्द वह अवश्य कह सकता है। पिछली बार जब वे आगरे आये थे, तो मेरे छोटे भाई रामनारायणसे, जो आगरा-कालेजमें इतिहासका अध्यापक था, अत्यन्त स्नेहपूर्वक मिले और मेरी लड़कीको श्रीमती शिवरानी देवीजी अपने साथ ही लिये रहीं। काशी लौटकर प्रेमचन्दजीने मुझे लिखा था—"You are extremely fortunate in having such a good brother."—"ऐसे अच्छे भाईको पाकर आप अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं।' और प्रेमचन्दजी-का कृपा-पात्र होना भी मेरे लिए कम सौभाग्यकी बात नहीं थी। गत ५ अक्तूबरको छोटे भाईका देहान्त हो गया और तीन दिन बाद प्रेमचन्दजी-का स्वर्गवास।

मेरा दुर्भाग्य।

नवम्बर, १९३६]

श्री गणेशशंकर 'विद्यार्थी'

"चित्तौरसे खंडवा जारहा हूँ। इन्दौर स्टेशन बीचमें पड़ेगा। आप मुझसे वहीं मिलिये। गाड़ी सवेरे पहुँचती है।" सन् १९१५ में श्रद्धेय गणेशजीने एक कार्ड इस आशयका मुझे भेजा था। मै उन दिनों इन्दौरमें ही अध्यापन कार्य करता था। प्रातःकालके समय स्टेशनके लिए चल पड़ा। पहले कभी उन्हें देखा नहीं था, इसलिए चिन्ता थी कि उन्हें पहचानूंगा कैसे। गाड़ी पांच-सात मिनटसे अधिक न ठहरती थी। इतने ही समयमें उन्हें तलाश करके बातचीत करनी थी। उनका नाम लेकर स्टेशन पर चिल्लानेमें तो अशिष्टता होती। गाड़ी आई, बीसियों यात्री नीचे उतरे। उनमें छरहरे बदनके और चश्मा लगाये हुए एक नवयुवक भी थे। समझ लिया हों न हों यही विद्यार्थीजी है! हिन्दी सम्पादकोंमें किसीके मोटे होनेकी सम्भावना तो थी ही नही। निकट जाकर पूछा "क्या आप ही प्रतापके सम्पादक हैं?"

"और आप फिजीके पंडित तोतारामजी?"

"नहीं! पर मैं उन्हीका आदमी हूँ"

उन दिनों मैंने पंडित तोतारामजीके कृपापूर्ण सहयोगसे प्रवासी भारतीयोंका कार्य प्रारम्भ किया था।

श्रद्धेय गणेशजीके प्रथम दर्शन मुझे इस प्रकार हुए। उन पाँच मिनटोंकी बात-चीतनें भी हृदयपर काफ़ी प्रभाव डाला। इसके बाद तो बीसियों बार श्रद्धेय गणेशजीसे मिलनेके अवसर प्राप्त हुए। एक बार वे मेरे यहाँ फ़ीरोज़ाबाद भी पधारे, और प्रताप कार्यालय तो अपना घर ही बन गया तथा गणेशजी अपने बन्धु। यद्यपि मुझे श्रद्धेय गणेशजीके उतने निकट पहुँचनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जितने निकट श्री माखनलालजी, श्री

कृष्णदत्त पालीवालजी, श्री श्रीराम शर्मा इत्यादि पहुँच सके, तथापि मेरा दृढ़ विश्वास है कि मुझ पर उनकी जितनी कृपा थी, वह किसीसे कम नहीं थी। आश्चर्यकी बात तो यह है कि उनके कितने ही बन्धु ऐसे हैं, जो इस बातका दावा करते हैं कि उन्हींपर उनका सबसे अधिक स्नेह था। गणेशजी एक संस्था थे, कार्यकर्ताओंके एक कुटुम्बके पालक-पोषक थे। और उनके विशाल हृदयमें हम सबके लिए स्थान था। इस कुटुम्बमें क्रान्तिकारियोंसे लगाकर मेरे जैसे साहित्यिक भी थे, पर वे सबपर प्रेम रखते थे, सबके बंधु थे और सबसे ऊँचे थे। सबमें मिले हुए होने पर भी सबसे अलग थे।

उनका व्यक्तित्व निराला था। हिमालयकी तराईमें खड़े हुए व्यक्तिके हृदयमें माउण्ट ऐवरेस्ट या गौरीशंकरकी चोटीकी ओर देखते हुए जिस प्रकारके भयमिश्रित सम्मानके भावोंका उदय होता है, उसी प्रकारके भावोंका उदय आज अमर शहीद विद्यार्थीजीके चरित्रकी ओर दृष्टि डालनेपर इन पंक्तियोंके लेखकके हृदयमें हो रहा है। उनके विषयमें अनेक मित्रों तथा भक्तोंने अपने-अपने संस्मरण लिखे हैं। एक पत्रकार बन्धुकी हैसियतसे मैं भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। साथी पत्र-कारोंके साथ वे कैसा वर्ताव करते थे, उनका कितना ख़्याल रखते थे और संकटके समय उनकी कितनी सहायता करते थे, श्रद्धेय विद्यार्थीजीके जीवनके इस पहलूपर इन पंक्तियोंसे शायद कुछ प्रकाश पड़े।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रद्धेय गणेशजीने कितने ही युवकोंको लेखक बनाया था और लेखकोंको पत्रकार। उन्होंने एक बार अपने एक सम्पादक मित्रसे कहा था: "यह क्या बात है जी ! कि तुम्हारे पत्रको काम करते हुए इतने दिन हो गये और तुमने अभी तक एक भी अच्छा लेखक नहीं बना पाया ?" इस विषयमें गणेशजी अपने सुयोग्य गुरु द्विवेदीजीके सुयोग्य शिष्य थे। प्रतापके वायुमंडलमें बने और पनपे हुए कवियों, लेखकों तथा संपादकोंकी संख्या काफ़ी बड़ी है।

हिन्दी-पत्रकारोंका जीवन कितना संकटमय होता है, यह भुक्तभोगी ही जानते हैं। ऐसे संकटके समय वह किसी-न-किसीका सहारा ढूँढ़ता है, पर हिन्दी-सम्पादकोंमें कितने ऐसे हैं जो सहानुभूतिपूर्ण उत्तर भी दे सकें, आर्थिक सहायता देना या दिलाना तो दूरकी बात है; और दर-असल आर्थिक सहायता तो एक गौण चीज़ है। सहानुभूतिके भूखे कष्ट-पीड़ित पत्रकारको Appreciation या दादकी जितनी ज़रूरत है, उतनी किसी दूसरी चीज़की नहीं। वह अपने कष्टोंको सन्तोषपूर्वक सहन कर सकता है, यदि उसे विश्वास दिला दिया जाय कि उसके जीवनका भी कुछ उपयोग है। गणेशजी एक सफल पत्रकार थे, मनोविज्ञानके अच्छे ज्ञाता थे और सबसे बढ़कर बात यह है कि वे एक सहृदय मनुष्य थे। अपने संकटग्रस्त पत्रकार बन्धुओंकी इस प्रकार सहायता करना कि उनके आत्मसम्मानको किसी प्रकारकी ठेस न पहुँचने पावे, वे ख़ूब जानते थे।

नवम्बर १९२० में मैंने एक पत्र अपने विषयमें उन्हें लिख भेजा। १९१५ और १९२० के बीचमें उनसे घनिष्ट परिचय हो चुका था, इस कारण यह हिम्मत पड़ी। उन्होंने इस पत्रका जो उत्तर भेजा, वह इतना उत्साहप्रद था कि उसे मैंने सार्टीफिकेटके लिफाफ़ेमें रख छोड़ा, उसके कुछ अंश उद्धृत करता हूँ, प्रारम्भकी प्रशंसात्मक पंक्तियाँ छोड़ दी गई हैं—

"१९,११,२०

'प्रियवर चतुर्वेदीजी,

बन्दे।

आपका कृपापत्र प्राप्त हुआ।............आपने जो कुछ लिखा, वह मुझे हृदयसे स्वीकार है। प्रताप आपका है। आप वैसे कहें, तो प्रतापकी सारी शक्तियाँ आपके चरणोंमें अर्पित हो जाँय। Charity की बात नहीं। ऐसी आत्माओंके कुछ भी काम आना सौभाग्य है, अपने कामका पोषण है, लक्ष्य सिद्धिकी ओर बढ़ना है। दैनिक प्रताप २२ तारीख से निकलने लगेगा। आप उसके लिए छोटे-छोटे लेख लिखें। मैं समझता

हूँ कि बड़े लेख कम पढ़े जाते हैं। एक अंकमें एक बात पूरी हो जाय । आप हर मास १०,१२,१५ तक ऐसे लेख दें। आपकी जो आज्ञा होगी, प्रताप उसे आपके चरणोंमें रक्खेगा।

हमने अभी यह तय किया है कि जिन लेखकोंसे हम दैनिकमें लिखा- वेंगे, उन्हें एक रुपया कालम देंगे, परन्तु आपके लिए आपकी आज्ञा हमें मान्य होगी। योग्य सेवाका आदेश दें।

आपका

ग० शं० विद्यार्थी।"

महीनेमें २५, २६, दिन निकलनेवाले दैनिक पत्रमें १०,१२,१५ लेख छापनेका वचन देना और साथ ही यह भी कह देना कि अपने लेखका मूल्य भी अपनी इच्छानुसार लगा लो, कितनी भारी सहायता थी। यद्यपि इस सहायताके उपयोग करनेका मौक़ा ही नहीं आया, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रही थी, पर आज भी उस सन्तोषका स्मरण करके हृदय गद्गद हो जाता है, जो उपयुक्त पत्रके मिलनेपर प्राप्त हुआ था।

अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी गणेशजी अपने पत्रकार बन्धुओंका बराबर ख़्याल रखते थे। किन-किन कठिनाइयोंमें उन्हें काम करना पड़ता था, उसका अनुमान उनके एक पत्रके निम्न लिखित अंशसे किया जा सकता है :

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे।

आप बहुत नाराज़ होंगे। आप लम्बे पत्र भेजते हैं, मैं ठीक-ठीक उत्तर भी नहीं देता। क्या करूँ मुझे कामकी अधिकताकी शिकायत नहीं है, मुझे शिकायत इस बातकी है कि मैं इतना दुर्बल क्यों हूँ कि इतना कम काम कर पाता हूँ। यदि मैं २४ घंटा काम कर सकता, तो आलस्य न करता। इस समय तो घूमना तक छुटा हुआ है। घरकी चिन्ताओंसे घरके बाहर निकलते ही छुट जाता हूँ, और बाहरसे घर पहुँचते ही, घरकी चिन्ताओंमें दब जाता हूँ। दोनों ओर खाई है। आज पाँच रातसे बराबर जगकर दो बच्चोंकी, जिन्हें नियूमोनिया हो गया है, सेवा कर रहा हूँ और दिन-

को जब कार्यालयमें आता हूँ तो प्रतापके कार्यमें नहीं, दूसरे कामोंकी बाढ़-में बह जाता हूँ। हालत उस तिनकेकी-सी है, जो तेज बहावमें ठहर नहीं पाता और बहता ही चला जाता है। खैर, यह तो आत्म-कथा है और इतनी लम्बी चौड़ी है कि कई पत्रोंमें भी समाप्त नहीं हो सकती। कहनेका तात्पर्य यह कि ऐसे आदमीसे आप अधिक आशा न कीजिये। लेख लिखना बहुत कठिन है। दो सप्ताहसे प्रताप हीमें कुछ नहीं लिख पाया हूँ। बाहरके किसी सज्जनके लिए लिखूंगा, तो आपके लिये, सबसे पहले लिखूँगा।

आपका

ग० शं० विद्यार्थी"

इस प्रकार व्यस्त रहनेपर भी उन्हें यह बात नहीं भूलती थी कि उनका अमुक पत्रकार बन्धु संकटमें है, उसे कहीं काम पर लगाना है। उनका १४,४,२७ का एकपत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है :

कानपुर १४,४,२७

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे।

आप प्रयागके मेजर बसु और उनके पाणिनी आफिसको अवश्य जानते होंगे। मेजर साहबके पास दस-बारह हज़ार पुस्तकें हैं वे Indian Academy नामकी एक संस्था बनाना चाहते हैं, जहाँ कुछ विद्वान् बैठकर भारतीय इतिहासके रिसर्चका काम करें। मेजर साहबके पास इस कामके लिए बहुत मसाला है। वे अपनी किताबें, कुछ ज़मीन और कुछ रुपया देना चाहते हैं और यह चाहते हैं कि कोई सत्पात्र इस कामको उठा लेवे, और कई सज्जनोंकी एक कमेटी बनजाय जो आवश्यक फंडका प्रबन्ध करले। सुन्दरलालजी तथा मेरी दृष्टि आपपर पड़ी। क्या आप प्रयागमें रहकर इस कामको आगे बढ़ा सकते हैं? फंडकी कमी न रहेगी, यदि कोई एक आदमी भी जुटनेवाला मिल जाय। मेजर बूढ़े आदमी हैं। वे कुछ लिखनेका काम कर और करा सकते हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं। यदि आपको सुविधा हो तो आप इलाहाबाद जाकर मेजर बसु और

सुन्दरलालजीसे मिल लीजिये। इसमें जो खर्च होगा मैं दूंगा। उत्तर शीघ्र दीजियेगा। आशा है आप सानन्द होंगे।

आपका

ग० श० विद्यार्थी"

कौन हिन्दी सम्पादक ऐसा है, जो अपने भाइयोंका इतना ध्यान रखता है? काम तलाश करना और आने-जानेका ख़र्च भी अपने पाससे देनेके लिए कहना!

गणेशजीके बन्धुत्वमें कृत्रिमता नहीं थी, वह पूर्णतया स्वाभाविक था। वे अपने साथियोंसे कामरेडशिपका बर्ताव करते थे और उन्हें खूब स्वतंत्रता देते थे; यहाँ तक कि उनके साथी उन्हें उसी प्रकार खरी-खोटी सुना सकते थे, जिस प्रकार कोई अपने घरके बड़े भाईको सुना सकता है। इस प्रसंगमें एक बात याद आ रही है। 'विशाल भारत' की अलोचना 'प्रताप'में हो गई थी और वह काफी प्रशंसात्मक भी थी, पर वह गणेशजीकी लिखी नहीं थी। बस इसी बातसे मैं असन्तुष्ट हो गया! इसके बाद प्रताप कार्यालयसे एक ब्लाक उधार मँगाया, जो मैनेजरने भेज दिया, पर साथ ही यह भी लिख दिया कि ब्लाक उधार देनेमें हमें बड़ी असुविधा होती है। यह बात भी मुझे बुरी लगी। सोच लिया कि कभी कानपुर पहुँचकर गणेशजीको खूब खरी-खोटी सुनाऊँगा। एक अवसर आ भी गया। कानपुर उतरा और प्रताप कार्यालयमें डेरा जा जमाया। गणेशजी उस समय ऑफिसमें थे नही। सामान रखकर एक कुर्सीपर बैठ गया। सामने मेज़ थी। गणेशजी आये। मैं उठने लगा। वे बोले, "अरे भई बैठे भी रहो!" ऐसा कहकर कन्धोंपर हाथ रखके कुर्सीपर बिठला दिया, और स्वयं मेज़के सहारे खड़े हो गये। मैंने कहा, "मैं तो आज आपको Condemn करने आया हूँ, अच्छी तरह डाँट बतानेके लिए!"

गणेशजीने हँसकर कहा, "कहो भी तो क्या हुआ, आखिर बात क्या हुई?"

मैंने कहा "बात क्या है ! मैंने तय कर लिया है कि अब 'विशाल भारत'में ख़ूब घासलेटी क़िस्से छापा करूँगा। आपने अमुक घासलेटी पत्रकी लम्बी आलोचना प्रतापमें की है और हमारे पत्र के विषयमें कुल जमा आठ-दस लाइन निकली हैं, सो भी आपने नहीं लिखी" और भी न जाने क्या-क्या बात उस समय अभिमानवश कह गया, मानो गणेशजी कोई भयंकर अपराधी हों और मैं कुर्सीपर बैठा हुआ जज !

गणेशजी मुस्कराये और बोले "बस इतनी ही बात है ? यही मेरा घोर अपराध है ? अच्छा भाई अबकी बार ख़ुद लिखूँगा।"

मैंने कहा, "दूसरा अपराध आपने और भी किया है। ब्लाक उधार नहीं दिये।"

इसपर गणेशजीने सारा क़िस्सा सुनाया।

"दिल्लीके अमुक पत्रने प्रतापके इतने ब्लाक हज़म कर लिये, और फलाँ अख़बारने ब्लाकोंको बिलकुल ख़राब कर दिया। बताओ, इस हालतमें क्या किया जाय। आफिसको General instruction दे रखी है कि ब्लाक बाहर न भेजे जायें। तुम्हारी चिट्ठी आई होगी। मैनेजरने जवाब दे दिया होगा। मैं तो सब चिट्ठियाँ देखनेसे रहा। अच्छा अब जो ब्लाक चाहो उठा ले जाओ। मैनेजरको मैं कह दूँगा, पर मैं यह तुम्हें बतला देना चाहता हूँ कि अगर तुम ऑफिससे ब्लाक उधार देना शुरू करोगे तो तुम्हें भी यही कटु अनुभव होगा।" गणेशजीकी बात बिलकुल ठीक थी। मुझे भी आगे चलकर इस विषयमें वैसे ही कड़ुवे अनुभव हुए।

हिन्दी और अंग्रेज़ीके अनेकों सम्पादकोंसे मेरा परिचय है, पर किसीके सामने इस स्वतन्त्रताके साथ खरीखोटी सुनानेकी हिम्मत मुझमें नहीं है और कौन छुटभइयोंको इतनी स्वतन्त्रता देता है ? हाँ, यह कहना मैं भूल गया कि कुछ दिनों बाद गणेशजीने 'विशाल भारत'की दो ढाई कालमकी आलोचना स्वयं ही प्रतापमें की।

जब गणेशजी कानपुरसे कौन्सिलके चुनावके लिए खड़े किये गये तो मैंने उनकी सेवामें एक पत्र भेजा। इस पत्रका आशय यह था कि आप जैसे Mass minded (सर्वसाधारण-जैसे विचारवाले) आदमी चुनावके दलदलमें क्यों फँस रहे हैं, यह बात मेरी समझमें नहीं आती। इस पत्रका जो विस्तृत उत्तर आया उसे मैं ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करता हूँ:—

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे।

आपका कृपा पत्र मिला। मैं गत सप्ताहसे छुट्टीपर हूँ, इसलिए आपके पत्रका उत्तर तुरन्त न दे सका। आपने जो शंका प्रकट की है वह ठीक है। मैं कौन्सिलमें जाना लाभदायक नहीं समझता। वहाँका वायुमंडल बहुत विषैला है और कौन्सिलसे देश या साधारण आदमियोंको कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। इसके अतिरिक्त मैं यह भी देख रहा हूँ कि हममेंसे जो लोग कौन्सिलमें जायेंगे, उनकी और अधिक ख्वारी होगी, और वे और भी नीचे जायेंगे। कानपुर काँग्रेसने अपने ऊपर इलेक्शनका काम लेकर देशको बहुत हानि पहुँचाई। मैं कौन्सिलमें क़तई नहीं जाना चाहता। अपना सौभाग्य समझूँगा, यदि इसकी छूतसे बचा रहूँ। यहाँका हाल यह है कि कानपुरमें जान तो है और लोग साहस और जोशके भी हैं, किन्तु उनके पास कौन्सिल युद्धके लिये उपयुक्त बलिदान नहीं है। डा० मुरारीलाल और डा० जवाहरलाल डेढ़-डेढ़ वर्षके लिए सज़ायाब होनेके कारण खड़े नहीं हो सकते। अब उनके लिए मैं ही एक आदमी ऐसा दिखाई देता हूँ, जिसे लेकर वे कानपुरके एक ऐसे आदमीके मुक़ाबलेमें सफलताकी आशा करते हैं जो लाट साहबसे हाथ मिलानेकी ख्वाहिश पूरी करनेके लिए ५०,००० रुपया ख़र्च करनेके लिए तैयार है और जो रुपयेके बलपर कानपुरके वोटोंको अपने हाथोंमें करनेका दम भरता है। काँग्रेस कमेटीने एकमतसे मेरा नाम रखा। मैंने इसका विरोध किया। हम दो विरोधी थे, मैं और बालकृष्ण। उसके बाद यह

बात प्रान्तिक कमेटीकी कौन्सिलके सामने गई। मैंने वहाँ स्पष्टरूपसे लिखकर भेजा कि मुझे माफ़ कीजिये, किन्तु इस विनयपर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया, और वहाँ भी मेरा नाम रख दिया गया। उसीको आपने पत्रोंमें देखा है। इसके बाद अब घरेलू युद्ध फिर छिड़ा हुआ है। मैं प्राण बचाता हूँ, किन्तु देवीकी उपासना करनेवाले बलिदानके लिये मुझे पकड़ते फिर रहे हैं। मैंने अन्तिम निर्णयके लिये दस दिनकी मोहलत माँग ली है, जो १० जूनको समाप्त होगी। मेरे सामने विचारनेकी यह बात है कि यदि मैं बलिदान होनेके लिये राज़ी नहीं होता, तो यहाँके पुराने कार्यकर्ता कांग्रेससे स्तीफा दे देंगे, क्योंकि वे कांग्रेसमें रहते हुए काँग्रेसकी प्रतिष्ठा जाते हुए नहीं देखना चाहते। बार-बार काँग्रेसकी प्रतिष्ठाकी दुहाई दी जा रही है। मैं यह बात पेश कर रहा हूँ कि मैं अपरिवर्तनवादी न होते हुए भी, कौन्सिलकी उपयोगितापर विश्वास नहीं करता और यह समझता हूँ कि जो बहुत साधारण-सा अन्तर इस समय स्वराजियों, प्रतिसहयोगियों और नेशनल पार्टीमें दिखाई दे रहा है, वह इलेक्शनके बाद न रह जायगा। मैं यह भी कहता हूँ कि मैं हिन्दू-मुसलमानोंके झगड़ेका मूल कारण इलेक्शन आदिको समझता हूँ, और कौन्सिलमें जानेके बाद आदमी देश और जनताके कामका नहीं रहता। मैंने कुछ बाहरी मित्रोंसे राय माँगी है। आप भी अपनी राय देनेकी कृपा करें।

१० जून तक कुछ निर्णय कर सकूंगा। चतुर्वेदीजी, इस संकटमें मैं आप ऐसे मित्रोंकी समवेदनाका अधिकारी हूँ। मैं अपने सहयोगियोंसे शुष्क व्यवहार इसलिये भी नहीं कर सकता कि हमारे आपसके सम्बन्ध सदा बहुत कोमल रहे हैं। आशा है, आप सानन्द होंगे।

आपका
ग० शं० विद्यार्थी।"

× × ×

मेरा विचार बहुत दिनोंसे पूज्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीका जीवन-चरित लिखनेका था, पर इसके लिए उनकी सेवामें महीने दो महीने रहनेकी आवश्यकता थी। समय तो मेरे पास था, पर साधन नहीं थे। किसीसे कहनेकी हिम्मत नहीं पड़ी। बहुत दिनों बाद यों ही मैंने गणेशजीको भेजे गये एक पत्रमें अपने इस पुराने विचारका ज़िक्र कर दिया। इसपर उन्होंने जो पत्र लिखा, उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ

"प्रिय चतुर्वेदीजी, बन्दे। कानपुर ४,२,३०

आपका ९ दिसम्बरका एक पत्र मेरी डाकमें पड़ा हुआ था। वह आज फिर दिखाई दिया। बीमारीके कारण उत्तर न दे सका था। आज कुछ समय मिला, इसीलिए आपके उस पत्रका उत्तर लिख रहा हूँ। दोनों आलोचनाएँ अर्थात् 'विशाल भारत' की और 'चाँद'के उस अंककी मेरी ही लिखी हुई थीं। आपने द्विवेदीजीके पत्रकी नकल भेजकर मेरी धारणाको और भी दृढ़ कर दिया। मैं उन्हें बहुत पहलेसे बहुत कोमल भावनाओंका व्यक्ति मानता हूँ। वे छोटी-से-छोटी अनुकम्पाको नहीं भूलते, और अपने निकटके आदमियोंको इतना चाहते है कि देख कर दंग रह जाना पड़ता है। ऊपरसे उनमें इतनी शुष्कता दिखाई देती है कि दूरका आदमी उनसे सदा घबड़ाया करता है। आपने वह अवसर बुरा छोड़ा। दो चारसौ रुपयेकी तो कोई बात नहीं है। अब भी मैं तैयार हूँ। आप ऐसा पारखी ही उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है। किसी समय भी आप समय निकालिये। आप जानते हैं कि 'जानसन' बड़ा होते हुए भी इतना बड़ा न समझा जाता, यदि उसकी जीवनीका लेखक 'बोसवेल' न बनता। आप पूज्य द्विवेदीजीके पास कुछ दिन अवश्य रह जाइये। सम्भव है, वे अभी जियें, किन्तु किसीके जीनेके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उनमें कितने ही ऐसे गुण हैं कि आनेवाली संतति उन गुणोंकी कथा सुनकर ही बहुत कुछ सीख सकेगी। आप उनके 'बोसवेल' बन जाइए, जो ख़र्च पड़े उसका ज़िम्मेदार मैं। आपके पास भी कामोंकी कमी नहीं है, किन्तु

दो-तीन बारमें आप कुछ सप्ताहोंका समय निकाल सकते हैं। आशा है, आप मेरी इस प्रार्थनापर पूरी तरह ध्यान देंगे। मेरे योग्य सेवा लिखते रहें।

आपका

ग० श० विद्यार्थी"

मैं ऐसे सपूतोंको जानता हूँ, जो अपने पिताकी स्मृति रक्षाके लिए एक पैसा भी खर्च नहीं करना चाहते। बड़े परिश्रमके साथ मैंने एक साहित्यसेवीके जीवन चरितके लिये नोट लिये और मसाला संग्रह किया। जब मैंने जीवन चरित लिखनेका विचार किया, तो उनके पुत्र बजाय कुछ मसाला भेजनेके मुझसे मेरे नोट ही वापस मँगाने लगे! दूसरे महानुभाव बिना कुछ खर्च किये जीवन-चरित लिखानेकी फिक्रमें हैं। विचारणीय बात यह भी है कि ये दोनों सज्जन ख़ूब खाते-पीते ख़ुशोख़ुर्रम हैं, पर पिताका सच्चा श्राद्ध करनेके लिए न उनके पास पैसा है और न समय! इनकी तुलना कीजिए गणेशजीकी उदारतासे, जो आर्थिक संकटमें रहते हुए भी चार सौ रुपये तक केवल इसीलिए ख़र्च करनेको तैयार थे कि उनके गुरु पूज्य द्विवेदीजीका जीवनचरित लिखा जाय।

एकबार श्रद्धेय गणेशजीने मुझे बहुत समझाया और कहा Self-Sacrifice (आत्मत्याग) और Suicide (आत्मघात) ये दोनों अलग चीज़ हैं। अपने लेखोंके लिए पुरस्कार लिया करो और बहुत दिनों तक उन्होंने प्रतापसे ५ रुपया प्रति पृष्ठके हिसाबसे पुरस्कार दिया भी।

गणेशजीकी इस प्रकारकी कृपा केवल मुझीपर रही हो, सो बात नही। अनेक लेखक आज उनकी कृपाओंका स्मरण कर आँसू बहाते हैं।

अभी उस दिन एक पत्रकारने कहा:

"मैं एक सज्जनसे मिलने आगरे गया हुआ था। रेलसे वापिस आनेके लिए पैसे पास थे नहीं, और उन महाशयसे माँगनेमें संकोच हुआ, इसलिए पैदल ही चल पड़ा। रास्तेमें एक महाशय मिल गये, जो गणेशजीके और मेरे, दोनोंके परिचित थे। उन्होंने बातचीतमें पूछा तो मैंने कारण बतला

दिया। उन्होंने यह बात कहीं गणेशजीसे जाकर कह दी। बस उन्होंने तुरन्त ही पचास रुपयेका मनीआर्डर भेज दिया और लिखा 'तुम भी अजीब आदमी हो, भला अपनोंसे इतना संकोच ! हमें रूखी-सूखी खानेको मिलती है तो हम-तुम बाँटकर खा लेंगे।' पत्रके शब्द ठीक-ठीक ये नहीं थे, पर आशय यही था। मैं अपनी इस भूलपर कि मैंने उस आदमीसे यह बात क्यों कही, बड़ा लज्जित हुआ।"

हमारे पड़ोसी एक दूसरे पत्रकार कहते हैं :–

"मुझे एक अत्यन्त आवश्यक घरेलू कार्यके लिए दो-सौ रुपयेकी ज़रूरत थी। कहींसे मिलनेकी सुविधा नहीं थी। गणेशजीके पास गया। प्रताप कार्यालयमें भी उस दिन रुपये नहीं थे। गणेशजीने अपने एक साथीको बुलाकर कहा 'देखो जी, मेरी ज़िम्मेवारी पर दो सौ रुपये अमुक दुकानसे लाकर इनको दे दो। इनका काम चलने दो, फिर पीछे देखा जायगा।"

सत्याग्रह आश्रमकी बात है। लड़केको तेज़ बुख़ार आ गया था। मैं घबरा गया। डाक्टर चार-पाँच मीलपर रहते थे। बन्धुवर हरिभाऊ उपाध्यायके पास गया। वे लेख लिखनेमें अत्यन्त व्यस्त थे। ज्यों ही मैंने ज़िक्र किया, उन्होंने तुरन्त ही क़लम रख दी और साथ चल दिये। डाक्टर लाये। लड़का स्वस्थ हो गया। मैंने हरिभाऊजीसे कहा "आप उस दिन फौरन ही मेरे साथ चल दिये, इससे मुझे बड़ा हर्ष हुआ।" उन्होंने कहा, "यह बात मैंने गणेशजीसे सीखी। चाहे जैसा ज़रूरी काम वे कर रहे हों, यदि उन्हें यह मालूम हो जाय कि किसी बीमारके लिए उनकी सेवाकी ज़रूरत है तो वे तुरन्त अपना काम छोड़कर उस बीमारका काम करते हैं।"

सन् १९२४ के प्रारम्भमें पूर्व अफ़्रिका जाते समय जहाज़में डेकपर यात्रा कर रहा था। श्रीमती सरोजिनी देवी ऊपर फ़र्स्ट क्लासमें थीं। समुद्री बीमारी Sea-Sickness के मारे नाकों दम था। चारों-ओर स्त्री-पुरुष कै कर रहे थे। मेरे लिए यह प्रथम बारकी समुद्र यात्रा थी, इसलिए

और भी घबड़ा रहा था। उस समय गणेशजी जेलमें थे। उनकी याद आ गई। मि० ऐन्ड्रूजका भी स्मरण हुआ। दिलमें सोचा कि क्या ही अच्छा होता, यदि दुनियामें मि० ऐन्ड्रूज और गणेशजी-जैसे सहृदय व्यक्ति बहुत-से होते। अपने मनको शान्त करनेके लिए उसी समय गणेशजीका एक छोटा-सा स्कैच अंग्रेज़ीमें लिखा। केनियाकी राजधानी नैरोबी पहुँच कर मैंने पहला काम यह किया कि टाइप करके उस स्कैचकी एक प्रति लीडरको भेजी। यह लेख लीडरके २१ फरवरी सन् १९२४ के अंकमें प्रकाशित हुआ। उस लेखके दो वाक्य निम्न लिखित हैं :

"What is behind that influence of the Pratap? The personality of Ganesh Shankar Vidyarthi. Quite unassuming in his manners, with a heart which keenly feels for the poor and a face which speaks of his long suffering and transparent sincerity, the personality of Ganesh Shankar Vidyarthi has a peculiar charm of its own. He has suffered much, has faced many difficulties and has passed countless troublesome days and anxious nights. He has been sent to jail thrice and his is a record of suffering hard to beat."

"Having no axe to grind, with no ambition except that of serving the poor, possessing the indomitable courage, ever ready to oppose tyranny and injustice from whatever quarter they may be the capitalists—the Government or the mob—Sriyut Ganesh Shankar Vidyarathi, the fighting editor of the Pratap is a representative of the powerful jinafolism of the coming future in India."

"प्रतापके उस प्रभावके पीछे क्या है ? गणेशशंकर विद्यार्थीका व्यक्तित्व । वे अपने व्यवहारमें बिल्कुल कृत्रिमता नहीं रखते, उनका हृदय ग़रीबोंके लिए द्रवीभूत हो जाता है और उनके मुख मण्डलसे उनकी दीर्घ कष्टसहन और पारदर्शी सच्चाईकी आभा छिटकती है, । गणेशशंकर विद्यार्थीके व्यक्तित्वका अपना आकर्षण है । उन्होंने बहुत कष्ट उठाये हैं, अनेकों मुसीबतोंका सामना किया है और उनके जीवनमें असंख्य दुखप्रद दिवस तथा चिन्ताकुल रजनी व्यतीत हुई हैं । उन्हें तीन वार जेल भेजा जा चुका है और कष्ट सहिष्णुतामें उनका रैकर्ड अद्वितीय है ।

स्वार्थ-भावनासे रहित, दरिद्रनारायणकी सेवाके सिवा जिसकी कोई दूसरी आकांक्षा नहीं और अन्याय तथा अत्याचारके विरुद्ध चाहे वे किसी-के द्वारा पूँजीपतियों या सरकारकी ओरसे अथवा अनियंत्रित मानव समूह द्वारा किये जाते हों सदा खड़ा होनेका जिसमें अदम्य साहस है, ऐसे प्रतापके योद्धा सम्पादक, भारतकी भावी शक्तिशाली पत्रकारिताके प्रतिनिधि हैं ।

× × × ×

गणेशजी हास्य प्रिय भी ख़ूब थे और उनसे हँसी-मज़ाक़ भी ख़ूब होता था। गोरखपुरके हिन्दी साहित्य सम्मेलनमें वे प्रधान थे । जब उनका स्वागत हो चुका तो मिलनेपर उन्होंने पूछा "अरे भई, तुमने यह क्या घासलेटका झगड़ा खड़ा कर दिया है ?"

मैंने कहा :-"एक औरत थी । उसने नया गहना (कंगन) बनवाया । किसीने पूछा भी नहीं ! बस उसने अपनी झोंपड़ीमें आग लगा दी । और हाथ उठा-उठा कर आग बुझानेके लिए चिल्लाने लगी । लोग बुझाने आये । एकने पूछा तुमने यह गहना कब बनवाया ? उस औरतने कहा 'अगर यह बात तुम पहले ही पूछ लेते, तो इस झोंपड़ीमें आग क्यों लगती ?' सो आप पहलेसे ही हमारा समर्थन करते, तो यह घासलेट आन्दोलन क्यों खड़ा होता ।"

यह सुनकर गणेशजी खूब खिलखिलाकर हँस पड़े, और बोले—"अच्छा समझ गये। यह तुम्हारी Personal-vanity (व्यक्तिगत अहंकार) है।"

सम्मेलनमें गणेशजीके सभापति होनेसे यही प्रतीत होता था कि सम्मेलन अपना ही है। उनको जब कुछ गौरव प्राप्त होता था तो उसे वे मानो अपने साथियोंमें बाँट देते थे। गोरखपुर सम्मेलनमें उनके साथियोंको यह प्रतीत होता था, मानों हम ही सभापति हैं, पर गणेशजी अपने कार्यमें या नियंत्रणमें शिथिलता बिलकुल नहीं आने देते थे। बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' तथा शिवनारायणजी इत्यादि को उन्होंने ख़ासी डाट बतलाई। मैं भी उनसे झगड़ पड़ा और मुझे भी फटकार सुननी पड़ी।

गणेशजीके साथी जब आपसमें मिलते तो प्रायः उनकी चर्चा होती। उनके गुण-दोषोंकी विवेचना होती। एक बार मैंने कहा "यदि मुझपर कोई संकट आवे, तो गणेशजी ही पहले आदमी होंगे, जो मेरी सहायता करेंगे, पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि गणेशजीकी सहृदयतामें वह भोलापन नहीं है, जो सत्यनारायणमें था।" वे सज्जन बोले "ठीक है, पर गणेशजीको एक संस्थाका संचालन करना पड़ता है, यदि वे सत्यनारायण होते तो न संस्थाका संचालन कर पाते और न हम लोगोंकी सहायता!"

आज गणेशजी अपनी गौरवमय मृत्युसे उस उच्च स्थानको पहुँच गये हैं, जहाँ उनके सैकड़ों साथियोंका, हम सबका, जन्मजन्मान्तरमें पहुँचना असम्भव है।

आज उस दीनबन्धुके लिये किसान रो रहे हैं। कौन उनकी उदर-ज्वालाको शान्त करनेके लिए स्वयं आगमें कूद पड़ेगा'? मज़दूर पछता रहे हैं, कौन उन पीड़ितोंका संगठन करेगा? मवेशीख़ानेसे भी बदतर देशीराज्योंके निवासी अश्रुपात कर रहे हैं, कौन उन मूक पशुओंको वाणी प्रदान करेगा? ग्रामीण अध्यापक रुदन कर रहे हैं, कौन उनका दुखड़ा सुनेगा और सुनावेगा? राजनैतिक कार्यकर्ता रो रहे हैं, कौन उन्हें आश्रय देकर स्वयं आफ़तमें फँसेगा? कौन उनके कन्धेसे कन्धा मिलाकर स्वातन्त्र्य-

संग्राममें चलेगा ? और एक कोनेमें पड़े हुए उनके कुछ पत्रकार बन्धु भी अपनेको निराश्रित पाकर चुपचाप चार आँसू बहा रहे हैं। आपत्कालमें कौन उन्हें सहारा देगा, किससे वे दिल खोलकर बात कहेंगे, किसे वे अपना बड़ा भाई समझेंगे, और कौन छुटभइयोंका इतना ख्याल रखेगा ?

देशमें बहुत-से पत्रकार हुए हैं, हैं और होंगे। प्रभावशाली व्यक्तियोंकी भी कमी नहीं। लीडर भी बहुत-से हैं, शायद ज़रूरतसे ज़्यादा। कईसे अपना परिचय भी है, कुछ की कृपा भी, पर गणेशजी-जैसा पत्रकारोंका सखा, उनके संकटका सहारा, दूसरा नहीं मिला। इस जीवनमें मिलनेकी आशा भी नहीं।

१९३०]

द्विवेदीजीके साथ चार दिन

"पूर्व जन्ममें तुमने कौन-से पाप किये थे, जिससे ऐसी तेज धूपमें तुम्हें यहाँ आना पड़ा ?" इस मधुर फटकारके साथ पूज्य द्विवेदीजीने मेरा स्वागत किया। मैंने तुरन्त ही उत्तर दिया "पुण्योंका परिणाम है पापोंका नहीं, इसे मैं तीर्थ-यात्रा समझता हूँ"।

मेरी यह तृतीय दौलतपुर-यात्रा थी, और अबकी बार मैं वहाँ कई रोज़ रहनेके इरादेसे गया था। मानव-चरित अध्ययन करनेका मुझे शौक़ है, और हिन्दी-साहित्यकी दृष्टिसे द्विवेदीजीस अच्छा व्यक्ति भला कौन मिल सकता था ? दौलतपुर पहुँचकर मुझे पता लगा कि द्विवेदीजीके स्वास्थ्यकी वर्तमान दशामें किसी लेखकका वहाँ पहुँचना उनपर सचमुच अत्याचार करना है। वे अपने साहित्य सम्बन्धी कार्यसे अवकाश ग्रहण कर चुके हैं, उनके साथी-संगी कभीके चल बसे हैं, और पुरानी स्मृतियोंकी याद दिलानेसे वे विकल और विह्वल हो जाते हैं। अत्यन्त संयमसे चलते हुए वे अपने जीवनके शेष दिन, ग्रामीणोंकी सेवा करते हुए एक ग्रामीणकी तरह बिता रहे हैं। उन्हें उन्निद्र रोग है। रात आँखें मूंदे-मूंदे ही बीत जाती है। नीद नहीं आती। अधिक मानसिक परिश्रम करनेसे मूर्छा भी आ जाती है, और कभी-कभी दिनमें तीन-चार बार मूर्छित हो जाते हैं। ऐसी हालतमें साहित्यिक विषयोंपर वार्तालाप करनेके लिए उन्हें मजबूर करना ऐसा भयंकर पाप है, जिसका कोई प्रायश्चित नहीं। यह अपराध मुझसे बन पड़ा, इसका मुझे दुःख है। और यह दुःख और भी बढ़ जाता है, जब मैं यह ख़याल करता हूँ कि मेरे चार दिन दौलतपुर रहनेका परिणाम भी द्विवेदीजीके स्वास्थ्यके लिए हानिकारक

सिद्ध हुआ, पर स्वार्थी दोषान्न पश्यति। मै पूज्य द्विवेदीजीके जीवनसे कुछ शिक्षा ग्रहण करना चाहता था और इसलिए मैने यह अपराध किया।

देशके अनेक बड़े-बड़े नेताओंका निकटसे अध्ययन करनेका सौभाग्य इन पंक्तियोंके लेखकको प्राप्त हो चुका है, और वह बिना किसी संकोचके कह सकता है कि पूज्य द्विवेदीजीसे बढ़कर उच्च कोटिका मनुष्य उसे हिन्दी-साहित्य-सेवी समाजमें अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। द्विवेदीजी-की विद्वत्ता अथवा लेखनशैलीकी आलोचना करनेका मुझे अधिकार नहीं। उनके सब ग्रन्थोंको मैने पढ़ा भी नहीं, और उनपर सम्मति देना तो मेरे लिए पूर्ण अनाधिकार चेष्टा होगी, पर मनुष्यताकी दृष्टिसे इतना मै दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि द्विवेदीजी जितने महान् लेखक हैं, उससे कहीं अधिक बढ़कर वे महापुरुष है।

सहृदयता, नियमबद्धता, परिश्रमशीलता, ईमानदारी, सत्यप्रियता, पर-दु:खकातरता इत्यादि जो गुण महापुरुषोंमें पाये जाने चाहिएँ, वे पूज्य द्विवेदीजीमें काफी बड़ी मात्रामें पाये जाते हैं। मस्तिष्कको हम उतना महत्व नहीं देते, जितना हृदयको देते हैं। यद्यपि द्विवेदीजीका मस्तिष्क भी अत्युच्च कोटिका है, पर उनके समान हृदय तो लाखों आदमियोंमें शायद दो-चारको ही मिलता है। उनकी नवनीत-समान-स्निग्ध कोमलता विदीर्ण हृदयोंके लिए मरहमका काम दे सकती है। जिनका हृदय हिन्दी साहित्यमें निरन्तर बढ़ते हुए दुनियवीपन और स्वार्थसे दु:खित हो चुका हों, आदर्शहीन आदमियोंको साहित्य क्षेत्रमें अधिकार जमाते हुए देखकर जिनका मन पीड़ित हो चुका हो और जो ईमानदारी और ग़रीबीमें अपना माथा ऊँचा रखनेके अभिलाषी हों, उन्हें चाहिए कि वे एकबार द्विवेदीजी-के चरित्रपर दृष्टि डालें। उन्हें उससे वही सहायता और सान्त्वना मिलेगी, जो समुद्रपर उड़नेवाले और किनारा न पा सकनेवाले पक्षीको जहाज़का मस्तूल देखकर मिलती है।

चार दिन द्विवेदीजीकी सेवामें रहनेके बाद सहसा ये उद्गार निकल पड़े "द्विवेदीजी सचमुचमें एक आदमी हैं और आदमी होना बहुत दुश्वार है।"

द्विवेदीजीकी नियम-बद्धता देखकर महात्माजीका स्मरण हो आता है। छोटी-से-छोटी चीज़का भी वे उपयोग जानते हैं। क्या मजाल कि काग़ज़का एक पर्चा भी ख़राब जाने पाये। अख़बारों तथा पत्रोंके ऊपर लिपटे हुए जो काग़ज़ आते हैं, उनका भी वे उपयोग कर लेते हैं। कुछ नासमझ गाँववाले उन्हें कंजूस कहते हैं, पर हिन्दी वालोंको ऐसे कंजूसोंकी अन्यन्त आवश्यकता है, जो इस प्रकार संयम और किफायतसे रहकर अपने कठिन परिश्रमसे कमाये हुए हज़ारों रुपये लोकोपकारी कार्योंमें ख़र्च कर दें।

दौलतपुरमें डाक दियाजले पहुँचती है। स्वास्थ्यकी इस हालतमें भी, जब रातको तो क्या, दिनमें भी पढ़नेसे द्विवेदीजीके मस्तिष्कमें निर्बलता आ जाती है, द्विवेदी जी अपने प्रत्येक पत्रको स्वयं ही खोलते और प्रारम्भसे अन्त तक पढ़ते हैं और दूसरे दिन प्रातःकाल होनेपर सबसे पहला काम वे यह करते हैं कि अपने हाथोंसे उनका उत्तर देते हैं। जहाँ-जहाँ हम गये हमने पत्रोत्तरमें द्विवेदीजीकी इस नियमबद्धताकी प्रशंसा सुनी। सुदूर मदरासमें भी जहाँ ये पंक्तियाँ लिखी जारही हैं, हिन्दी प्रचारक कार्यालयके एक कार्यकर्ताने अपने अनुभवसे कहा कि पूज्य द्विवेदीजीके यहाँसे तुरन्त उत्तर आता है। अगर किसी परीक्षामें यह प्रश्न आये कि द्विवेदीजीके यहाँसे उत्तर आनेमें कितना समय लगता है, तो परीक्षार्थी बेखटक बीजगणितका निम्नलिखित फारमूला लिख सकता है: स्थानसे दौलतपुरतक चिट्ठी पहुँचनेका समय+दौलतपुरसे स्थानतक चिट्ठी आनेका समय।

पर कभी-कभी गुण भी उचित सीमाका अतिक्रम कर जानेसे अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होने लगता है। पत्रोत्तरमें द्विवेदीजीकी यह नियम-

वद्धता उन्हें बड़ी महँगी पड़ रही है। उनके स्वास्थ्यका संहार करनेमें इसने काफी सहायता दी है।.

× ×

द्विवेदीजीका हृदय अत्यन्त कोमल है। श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक पत्रमें मुझे लिखा था:—

"मैं उन्हें बहुत पहलेसे बहुत कोमल भावनाओंका व्यक्ति मानता हूँ। वे छोटी-से-छोटी अनुकम्पाको नहीं भूलते, और अपने निकटके आदमियोंको इतना चाहते हैं कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है। ऊपरसे उनमें इतनी शुष्कता दिखाई देती है कि दूरका आदमी उनसे सदा घबराया करता है।"

आजकल तो उनका हृदय और भी कोमल हो गया है। वे इस समय कोई भी बात ऐसी नहीं लिखना चाहते, जिससे किसीका दिल दुखे। स्वार्थी लोग उनकी वर्तमान मानसिक प्रवृत्तिसे लाभ उठानेका भरपूर प्रयत्न करते हैं। चाय पीकर द्विवेदीजी लेटे हुए थे कि मैंने यही प्रसंग छेड़ दिया। द्विवेदीजीने सजल नेत्रोंसे कहा "अब हमसे यह आशा न करनी चाहिए कि किसी पुस्तकके विषयमें नपी-तुली सम्मति प्रकट करें। हम किसीका दिल नहीं दुखाना चाहते" चार सौ पृष्ठके पोथेको पढ़कर उसपर सम्मति देना इस दशामें उनके लिए अत्यन्त कठिन है। इसलिए वे इधरसे उधर देखकर उत्साहप्रद सम्मति लिख भेजते हैं। यार लोग उसका ब्लाक बनवाकर अपनी विज्ञापनबाज़ी करते हैं! पर इससे यह न समझना चाहिए कि द्विवेदीजीकी अक्ल सठिया गई है, और वे भले-बुरेका अन्तर नहीं समझते। पूज्य द्विवेदीजीमें पुराना द्विवेदीपन अब भी ज्यों-का-त्यों मौजूद है, पर उसकी झलक उनके विशेष कृपापात्रोंको ही दिखाई दे सकती है। मेरा तो यह ख़याल है कि आजकल द्विवेदीजीकी डाटका मूल्य उनकी प्रशंसासे कहीं अधिक है। कहा जाता है कि महात्माजी अपने निकटके भक्तोंको ख़ासी डाट बतलाते रहते हैं, और विरोधियोंकी अथवा इतरजनोंकी

प्रशंसा ही किया करते हैं। द्विवेदीजीका स्वभाव भी इस विषयमें महात्माजीसे मिलता-जुलता है। इन चार दिनोंमें द्विवेदीजीकी कई बार मधुर डाट मुझे सुननी पड़ी।

संध्या समय चबूतरेपर लेटे हुए थे। द्विवेदीजीको बोलनेमें भी श्रम पड़ता है, इसलिए उन्होंने मुझे अपने निकट बुलाकर बिठलाया। फिर पूछा 'क्या तुलसीदासजीकी रामायण पढ़ते हो ?' मैंने कहा 'नहीं, पूरी रामायण एक बार भी नहीं पढ़ी।' यह बात मैंने लज्जापूर्वक अथवा। निर्लज्जतापूर्वक स्वीकार करली। द्विवेदीजीने कहा तो तुम कवि हृदय नहीं हो। मैंने कहा, आपका कहना ठीक है। फिर द्विवेदीजीने रामायणके कई मधुर प्रसंग सुनाये, और उनकी खूबियाँ भी बतलाई। द्विवेदीजीकी स्मरण-शक्ति देखकर आश्चर्य हुआ। कविताके विषयमें बातचीत चल रही थी। मैंने कहा, मुझे तो सियारामशरणजीकी कविता मैथिलीशरणजीके काव्यसे भी अच्छी प्रतीत होती है। द्विवेदीजीने कहा, सियारामशरणकी किताबें तो हमारे पास बराबर आती रही हैं, पर हमें तो उनकी वह कविता बहुत पसन्द आई, जो उन्होंने वर्षों पहले हमारे पास भेजी थी, और उसे हम प्रायः पढ़ा करते हैं। मैंने कहा, कौनसी ? द्विवेदीजीने उस कविताको तुरन्त ही सुनाया।

"क्षुद्रसी हमारी नाव, चारों ओर है समुद्र
वायुके झकोरे उग्र रुद्र रूप धारे हैं।
शीघ्र निगल जानेको नौकाके चारों ओर
सिन्धुकी तरंगें सौ सौ जिह्वाएँ पसारे हैं।
हारे सभी भांति हम, अब तो तुम्हारे विना
झूठे ज्ञात होते और सबके सहारे हैं।
और क्या कहें अहो डुबा दो या लगादो पार
चाहे जो करो शरण्य शरण तुम्हारे हैं"।

मैंने कहा इसे मुझे लिखा दीजिए। द्विवेदीजीने कहा, जिस साल

मैंने सरस्वतीसे छुट्टी ली थी, उसके अमुक महीनेके अंकमें वह कविता छपी थी। वहाँसे ले लेना।

थोड़ी देर बाद द्विवेदीजीके घरकी आठ नौ वर्षकी लड़की आई। द्विवेदीजीने उससे कहा अच्छा कविता सुनाओ। उसने सुनाना शुरू किया:—

"बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा सा जल रहा
है चल रहा सन् सन् पवन तनसे पसीना ढल रहा
तो भी कृषक शोणित सुखाकर हल चलाते जारहे
किस लोभसे इस आँचमें वे निज शरीर जला रहे"

लड़कीने और भी कई पद्य सुनाये। द्विवेदीजीने कहा जब मिलो, तब मैथिलीशरणसे कहना कि हमारी लड़कीको उनकी कवितायें याद हैं, और वह बड़े चावसे पढ़ती है। कविताका ज़िक्र आनेपर द्विवेदीजीने दृष्टान्त देकर समझाया कि अच्छी कविता किसे कहते हैं। फिर कहा जो कविताएँ तुम्हारी समझमें न आयें, उन्हें मत छापा करो। मैंने कहा—इस प्रकारकी कविताओंका नाम श्री हरिशंकरजीने क्लीटकाव्य रख दिया है, और वे संस्कृत तथा हिन्दीमें ऐसे बढ़िया क्लीटकाव्य बोलते चले जाते हैं कि सुन कर हँसी आये बिना नहीं रहती। एक क्लीटकाव्य उन्होंने ऐसी कविताओंके विषयमें लिखा था, उसकी एक पंक्ति थी:—

"पत्नीके घटना घूँघटपर तरंगिणीके तटपर"

द्विवेदीजीने कहा, "चिड़ियाघरवाले हरिशंकरजी ?"

मैंने कहा, "हाँ",

द्विवेदीजीने कहा, 'जब हरिशंकरसे मिलो तो उनसे कहना कि दौलतपुरका बुड्ढा तुम्हारी याद करता है।"

यह देखकर आश्चर्य होता है कि द्विवेदीजी हिन्दी साहित्यकी वर्तमान प्रगतिसे अपनेको परिचित रखनेका प्रयत्न निरन्तर करते रहते हैं। यदि किसी पत्रमें किसी लेखककी रचना उन्हें पसन्द आ जाती है, तो वे तुरन्त उसकी यथोचित प्रशंसा लिख भेजते हैं। विशाल भारतके फरवरीके अंकमें

'मेरी तीर्थयात्रा' शीर्षक लेख छपा था। उसमें पुरुलियाके कुष्टाश्रमका वर्णन था। उसे पढ़कर पूज्य द्विवेदीजीने स्वयं ही निम्नलिखित पत्र मुझे भेजा:—

"फरवरीके विशालभारतमें मैंने तीर्थयात्रा नामक लेख पढ़ा। पृष्ठके पहले कालममें कोढ़ियोंके दिये हुए प्रेमोपहारकी बात पढ़ते ही मेरी आँखोंसे अश्रुधारा बह निकली। मैं बड़ी देरतक विकल रहा। धन्य, उफमैन साहब। मेरे हृदयमें कुछ समयसे अजीब परिवर्तन हो गया है। मुझसे दूसरों का दुःख नहीं देखा जाता। इस कारण कभी-कभी घरवालोंकी फटकार भी मुझपर पड़ती है। फरवरीकी पेन्शन आनेमें देर है, कुछ ही टके इस समय पास हैं। उन्हें मिलर साहबको भेजता हूँ"

यद्यपि विशालभारत के उस लेखको सहस्रों पाठकोंने पढ़ा, पर कुष्टियों-के प्रति क्रियात्मक सहानुभूति दिखानेवाले व्यक्ति थोड़े ही निकले। द्विवेदीजीने मेरे लेखको पढ़ लिया, यही बात मेरे लिए गौरवजनक थी, पर उससे प्रेरित होकर उन्होंने उस आश्रमके लिए सहायता भी भेज दी, और इस प्रकार मुझे पुण्यका साझीदार भी बना लिया, इससे अधिक उत्साहप्रद घटना मेरे जैसे क्षुद्रलेखकके लिए और क्या हो सकती थी ?

आजकल द्विवेदीजी प्रायः संस्कृत या हिन्दी कवितामें अपनी सम्मति अथवा आशीर्वाद भेज दिया करते हैं। प्रयागके किसी सज्जनको उन्होंने लिख भेजा था :—

"दे देकर जलदान भर दिये भूमि भाग सब शुष्क तड़ाग
लहरा रहे देख ये मेरे खेत, आम जामुनके बाग
शरतकाल में हुआ आज जो तेरा दृष्टिकोश निःशेष
तो उससे हे वारिधि तेरी शोभा ही हो रही विशेष"

यह पत्र किस प्रसंगमें लिखा गया था, यह मुझे याद नहीं। किसी अन्य सज्जनको उन्होंने लिख भेजा :—

"क्षीर्णशक्तिर्जराजीर्णो मन्ददृष्टिरहं बुध
पत्रदाने प्रदाने च न समर्थोऽस्मि क्षम्यताम्"

द्विवेदीजीके जीवनमें दम्भका नामोनिशान नहीं। उन्हें इस बातकी चिन्ता नहीं कि कोई उनके धार्मिक विश्वासोंके विषयमें क्या कहता है। यदि धर्मका अभिप्राय दीन दुखियोंकी सेवासे है तो इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी अत्यन्त धार्मिक मनुष्य हैं। वाह्य आडम्बरोंमें वे विश्वास नहीं रखते। आजसे ३४ वर्ष पहले उन्होंने 'कथमहं नास्तिक' शीर्षक जो संस्कृत कविता लिखी थी, वह आज भी उनके विषयमें उतनी ही सत्य है।

"नित्यं जपामि यदहं शुचिसत्यसूत्रं
लोके तदस्तु मम मन्त्रजपः पवित्रम्
या सज्जनेषु भगवन् मम भक्तिरेषा
सैव प्रभो भवतु देवगणस्य पूजा"

"हे भगवन् पवित्र सत्यका जो हम सदैव जप किया करते हैं, उसीको आप हमारा मन्त्र जप समझिये, और सत्पुरुषोंमें जो हमारी भक्ति है, उसीको हमारी देवपूजा मानिये।"

"सर्वेषु जीवनिचयेषु दयाव्रतं मे
श्रेयो ददातु नियतं निखिलव्रतानाम्
अच्छाच्छचन्दनरसादपि शीतलो माश
मानन्दयत्वनि-मीश परोपकारः"

"हे ईश, जीवमात्रके विषयमें हमने जो दयाव्रत धारण किया है, वही हमारे लिए प्रदोषादि सारे व्रतोंके फलका दाता हो, और उत्तमोत्तम चन्दनसे भी अधिक शीलताको धारण करनेवाला परोपकार सदैव हमको आनन्द देता रहे।"

अन्यद्ब्रवीमि किमहं जगदेकबन्धो !
बन्धुर्न कोऽपि मम देव ! सुतोऽपि नास्ति

तन्नास्तिकस्य भगवन्नथवाऽस्तिकस्य
हस्ते तवैव करुणाम्बुनिधेः गतिर्मे

"हे देव और अधिक हम क्या कहें, आप इस जगतके एक मात्र बन्धु हैं, परन्तु संसारमें हमारा कोई बन्धु नहीं पुत्र भी कोई नहीं। अतएव हे करुणासागर हे भगवन् इस नास्तिक अथवा आस्तिककी गति केवल आप ही के हाथमें है।"

किसानोंकी सेवा

आजकल द्विवेदीजीके समयका अधिकांश ग़रीब किसान मज़दूरोंकी सेवामें व्यतीत होता है। हमारे यहाँ हिन्दीके कितने ही लेखक ऐसे है जो किसान-मज़दूरोंके विषयमें लेख लिखा करते हैं, क्रान्तिकी बातें करते और साम्यवादका उपदेश देते हैं, पर ग्रामोंमें रहकर ग्रामीण जनताकी सेवा करना उनकी शक्तिके बाहरकी बात है। द्विवेदीजी अपनी ग्रामकी पंचायतके सरपंच हैं। उनके मुकदमोंका फैसला करते हैं। नियमानुकूल काम करना तो द्विवेदीजीके स्वभावका एक अनिवार्य्य अंग बन गया है। पंचायतके फैसले इतने परिश्रम और तल्लीनतासे करते हैं कि कोई न्यायाधीश इस विषयमें उनसे ईर्ष्या कर सकता है। छोटे-से-छोटे ज़िम्मेवारीके कामको पूर्ण सावधानीके साथ करना महापुरुषोंका लक्षण है। रायबरेली ज़िले भरकी पंचायतोंमें इतना कार्य कहींकी पंचायतने नहीं किया, जितना द्विवेदीजीकी पंचायतने किया।

प्रातः काल और सायंकालके समय वे नियमपूर्वक टहलनेके लिए जाते हैं। उन्हें बुड्ढे किसानोंसे उन्हींकी भाषामें मज़ाक करते हुए देखकर किसीको यह अनुमान भी नहीं हो सकता कि इस महापुरुषने हिन्दी साहित्य-पर बीस वर्ष शानदार शासन किया था। एक बुड्ढेसे बोले 'खाउ अपनी दुलहिनकी कसम'। वह किसान ठठाकर हँसने लगा। किसानका लड़का खेतपर बेझरकी रोटी रूखी खा रहा है। द्विवेदीजी उसके पास ठहरकर

उससे सवाल करते हैं, और किसानोंकी दुर्दशापर चार आँसू बहाते हैं। नया अन्न खाकर किसान बीमार पड़ गया है, दस्त होते हैं, द्विवेदीजी उसे पोदीना और शक्कर खानेके लिए कहते हैं। पोदीना अपने बगीचेसे देते हैं, और शक्करके लिए पैसे भी देते हैं। किसी किसानपर अपने १३ रु० छोड़ देते हैं, तो किसीपर ८ रु० कम कर देते हैं।

द्विवेदीजीने क़रीब एक सौ पेड़ आमके लगाये हैं। एक दिन वे अपने पेड़ देखनेके लिए गये। मैं भी साथ था। कमज़ोरीके मारे उन्हें चक्कर आ गया। पासके पेड़का सहारा लिया। खेतमें होकर हम लोग जा रहे थे। फिर चक्कर आना शुरू हुआ। मैंने सहारा दिया। अपने लगाये वृक्षोंके निकट पहुँचकर बोले "देखो, हमारे लगाये वृक्ष कैसे फलोंसे लदे हुए है। हमें तो अब इन्हींके देखनेमें आनन्द आता है।"

मुझे उस वक्त मज़ाक़ सूझा। मैंने कह दिया "आपके साहित्योपवनको तो ढोर जानवर चरे जा रहे हैं"।

द्विवेदीजी मुस्कराये और उन्होंने कहा 'अब दूसरे लोग उसकी देख-भाल करें।"

चाहिए तो यह था कि मैं उस वक्त कहता कि आपका लगाया साहित्यो-पवन भी इसी प्रकार फल-फूल रहा है, पर मेरे मुखसे उपर्युक्त भद्दी व्यंगोक्ति निकल गई।

द्विवेदीजीके जीवनको देखकर यही कहना पड़ता है कि उन्होंने ठीक समयपर साहित्य-क्षेत्रसे विश्राम लेनेके महत्वको समझा, और विश्राम लेनेका अर्थ उन्होंने किया दूसरे कार्यमें व्यस्त होना। आज भी जितना परिश्रम वे किसानोंकी सेवाके लिए कर रहे हैं, वह उनके स्वास्थ्यकी वर्तमान दशामें सचमुच आश्चर्यजनक है।

बर्नार्ड शाने एक जगह लिखा है:—

This is the true joy in life, the being used for a purpose recognised by yourself as a mighty one,

the being throughly worn out before you are thrown on the scrap heap, the being a force of na-ture instead of a feverish, selfish, little cold of ail-ments and grievances, complaining that the world will not devote itself to making you happy.

अर्थात्––मानव जीवनका सच्चा सुख इसीमें है कि जीवनका एक ऐसे उद्देश्यके लिए उपयोग किया जाय, जिसको आप महान् और उत्कृष्ट समझते हों, आप अच्छी तरह जीर्ण और जर्जरित हो जायें पूर्व इसके कि कूड़ेके ढेरमें फेंक दिये जायें, आप प्रकृतिकी एक शक्ति हों न कि क्लेश, शोक और उपालम्भोंके ज्वरग्रस्त और क्षुद्र मृतपिण्ड हों, जो सदा यही शिकायत करता रहता है, कि संसार मुझको सुखी बनानेकी ओर ध्यान नहीं देता।

(२)

कमरेके भीतर द्विवेदीजी एक तख़्तपर लेटे हुए थे। उससे कुछ दूर एक कुर्सीपर मैं बैठा था। द्विवेदीजीने मुझे अपने निकट बुला लिया, क्योंकि ज़ोरसे बात करनेमें उन्हें श्रम पड़ता है। पुस्तकोंके विषयमें चर्चा चल पड़ी। द्विवेदीजीने पूछा––"क्या तुमने 'यूटोपिया' नामक पुस्तक पढ़ी है?"

मैंने कहा––"नहीं।"

और भी एकाध पुस्तकके विषयमें उन्होंने यही प्रश्न किया, पर उन्हे उत्तर नकारात्मक ही मिला। द्विवेदीजीने फिर डाँट बतलाई––"आख़िर क्या करते रहते हो? पढ़ते कुछ भी नहीं? अरे भाई! कम-से-कम दो घंटे तो स्वाध्याय किया करो। अपना वक्त किस-किस काममें ख़र्च करते हो?"

मैं बहाने बनाने लगा—"मिलनेवाले बहुत आ जाते हैं, और फुर्सत ही नहीं मिलती।"

द्विवेदीजी भला इस बहानेको क्यों मानने लगे ! उन्होंने कहा— "क्यों नहीं घरपर लिखकर टाँग देते कि हम अमुक समयसे अमुक समय तक मिलते हैं। जब हम रेल-विभागमें नौकर थे, तो हमें अपने दरवाज़ेपर एक तख़्ती लगा देनी पड़ी थी कि घरपर हमसे कोई न मिले। ऐसा करना तो तुम्हारे लिए शायद अधिक कठोर हो, पर मिलनेका समय निश्चित कर सकते हो।"

जब द्विवेदीजी झाँसीमें थे, उस समय वहाँके गोरोंकी समिति रेलवे इंस्टीटयूटमें आनेवाली सब अंग्रेज़ी पुस्तकें आपने पढ़ ली थीं। किसी हिन्दुस्तानीको वे पुस्तकें पढ़नेके लिए नहीं दी जाती थीं, पर द्विवेदीजीने उक्त संस्थाके अधिकारियोंसे विशेषाज्ञा अपने लिए ले ली थी। द्विवेदीजीने पढ़ा ख़ूब है; और तो और, जानवरोंकी बीमारियोंके विषयकी पुस्तक भी उन्होंने पढ़ी हैं ! बातचीतके सिलसिलेमें मैंने उनसे कहा—"श्रीराम-जीके ग्राममें एक ऐसा अपढ़ आदमी है, जो जानवरोंकी बीमारियोंके इलाजमें बड़े-बड़े वेटरनरी डाक्टरोंको मात करता है।"

द्विवेदीजीने कहा—"हमारे यहाँ भी एक ऐसा आदमी है। हमने जानवरोंकी किसी बीमारीके बारेमें उसे एक पुस्तकके कुछ अंश सुनाये, तो उस आदमीने उस पुस्तककी बातमें संशोधन बतलाये कि इसमें इतनी कमी रह गई !"

फिर द्विवेदीजीने कहा—"मालूम होता है कि नवयुवक हिन्दी-पत्रकार स्वयं कुछ नहीं पढ़ते। 'लीडर' और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के भरोसे बैठे रहते हैं ! आप यदि हमारे संग्रहको देखें, तो उसमें 'गवर्मेण्ट आफ इंडिया ऐक्ट' भी पावेंगे। राजनीतिपर हम नहीं लिखते थे, फिर भी राजनैतिक विषयोंकी पुस्तकोंका अध्ययन करना हम आवश्यक समझते थे।"

बड़ी खैरियत हुई कि द्विवेदीजीने मुझसे यह नहीं पूछा कि तुमने 'गवर्मेण्ट ग्राफ इंडिया ऐक्ट' भी पढ़ा है, या नहीं ! मुझे खेद इस बातका था कि मेरी वजहसे अन्य हिन्दी-पत्रकार भी बदनाम हो गये।

पत्र-प्रेषकोंकी अक्लमन्दी

बहुत वर्षोंसे द्विवेदीजीको उन्निद्र रोग है। थोड़ा भी मानसिक परिश्रम करनेसे यह रोग विकट रूप धारण कर लेता है। एक दिन सन्ध्या समय एक भले मानसकी पाँच पृष्ठ फुलस्केप काग़ज़की लम्बी चिट्ठी पहुँची, जो संस्कृतमें लिखी हुई थी। द्विवेदीजी उसे प्रारम्भसे अन्ततक बिना पढ़े कैसे रहते ? नतीजा यह हुआ कि रातको उन्हें जो दो घंटे नींद आ जाती थी, उसमें भी बाधा पड़ गई। सवेरे उठकर बोले—"मनमें तो ऐसा आता है कि अंग्रेज़ीमें एक कार्ड लिख भेजें—

"I am too feeble to reply to your long letter of five foolscap pages. Please excuse."

पर थोड़ी देर बाद द्विवेदीजीकी यह झुँझलाहट शान्त हो गई, और उन्होंने संस्कृतमें ही एक कार्ड लिख भेजा। न-जाने हम लोग कब यह बात सीखेंगे कि द्विवेदी-जैसे आदमियोंको संक्षेपमें ही पत्र लिखना चाहिए।

मेरा अपराध

जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ कि द्विवेदीजी अत्यन्त कोमल हृदयके व्यक्ति हैं, पर उसके साथ ही उनकी इच्छाशक्ति भी काफी दृढ़ है। यदि उनकी इच्छाशक्ति प्रबल न होती और वे संयमशील न होते, तो अब तक कभीके चल बसे होते। पत्नीके आकस्मिक स्वर्गवासके कारण द्विवेदीजीके हृदयको बड़ा ज़बरदस्त धक्का लगा था। यहाँ तक कि उनका मस्तिष्क उन्मादकी सीमा तक पहुँच गया था। एक दिन उन्होंने सोचा कि इस तरह तो काम नहीं चलनेका, यदि यही हालत रही, तो शीघ्र ही इस

लोकसे प्रयाण करना पड़ेगा। इस प्रकारका दुःख अकेले मुझ पर ही नहीं पड़ा है, संसारमें और भी लाखों आदमियोंपर ऐसी आपत्तियाँ पड़ती रहती हैं। अब मैं आजसे प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस दुःखसे अपनेको विचलित नहीं होने दूंगा। उस दिनसे द्विवेदीजीने अपनेको सँभालना शुरू किया, और बड़ी कठिनतासे वे अपनेको अत्यधिक निर्बल होनेसे बचा सके। पर उनका यह दुःख हृदयके किसी कोनेमें संचित किया हुआ पड़ा है, और थोड़ी-सी ठेस लगनेसे उभर आता है। एक दिन अकस्मात् मेरे मुँहसे अपने कष्टकी कुछ बात निकल गई। इसी दुःखके भुक्त-भोगी होनेके कारण यह स्वाभाविक था। द्विवेदीजीकी आँखोंमें आँसू झलक आये, और उन्होंने कहा—"अरे भाई! यह ज़िक्र मत करो।" द्विवेदीजीको अपनी दुर्घटनाकी याद आ गई। दूसरे दिन उन्होंने मुझसे कहा—"कल रातको दो बजे नींद खुल गई। पड़ा रहा। आँखोंसे पानी गिरता रहा। आपने अपने दुःखकी जो बातें सुनाई, उनका यह परिणाम हुआ!" उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि मैंने कैसा भयंकर अपराध किया है। पत्नी-वियोग एक ऐसा व्रण है, जो कभी पुरता नहीं, और बढ़ती हुई उम्रके साथ जिसकी टीस भी बढ़ती जाती है।

द्विवेदीजीकी ज़िन्दादिली

द्विवेदीजी यद्यपि साहित्य-क्षेत्रसे रिटायर हो चुके हैं, पर वे उससे सर्वथा अलग नहीं हुए। अपनी तीक्ष्ण दृष्टिसे वे अब भी साहित्य-संसारकी सैर कर लिया करते हैं, और कहाँ क्या हो रहा है, इसकी वे काफी खोज-ख़बर रखते हैं। घासलेट-विरोधी आन्दोलनसे वे भलीभाँति परिचित रहे, और दूसरी बार जब मैं दौलतपुर गया था, तब मुझसे उन्होंने उसके विषयमें पूछा भी था। अभी उस दिन उन्होंने मुझसे कहा—"कविसम्मेलनोंमें ये लोग रातको दो-दो बजे तक क्या करते रहते हैं?"

मैंने कहा--"ऊटपटांग कविता सुनाया करते हैं। जनता तालियाँ पीटती है, पर ये लोग बैठते ही नहीं !"

द्विवेदीजी--"जनता खुश होकर तालियाँ पीटती है ?"

मैं--"नहीं, कवितासे ऊबकर !"

"सभापतिको ये लोग कविता दिखलाते भी हैं ?"

मैंने कहा--"नहीं दिखलाते, इसमें तो वे अपनी मानहानि समझते हैं !"

द्विवेदीजीने कहा--"हमारा वश चले, तो दो-चार मिनटसे ज़्यादा किसी कविको समय न दें, और दो घंटेमें कवि-सम्मेलनकी कार्रवाई समाप्त कर दें।"

यदि कोई अच्छा लेख द्विवेदीजीकी नज़रमें आ जाता है, तो वे उसके लेखकका पता लगानेकी कोशिश करते हैं, उसे बधाई देते है, और इस प्रकार उत्साहित करते हैं। पिछले दिनों श्रीराम शर्माजीको द्विवेदीजीने कई पत्र लिखे थे। जब दौलतपुरमें श्रीरामजीका ज़िक्र आया, तो बोले--"हम तो श्रीराम शर्माकी भाषाशैलीपर मुग्ध हैं। ऐसी भाषा बहुत कम लेखक लिख सकते हैं। श्रीरामजी कहीं तीन-चार घंटे नित्यका काम कर लें और शेष समय पुस्तक लिखनेमें व्यतीत करें।" ?

द्विवेदीजी बहुधन्धी आदमियोंसे नाराज़ रहते है। यों ही बातचीतके सिलसिलेमें मै उन्हें सुना गया कि मैं यह काम करना चाहता हूँ, वह काम करना चाहता हूँ। द्विवेदीजी बोले--"तुम इतने ज़्यादा काम ले बैठे हो कि सफलतापूर्वक कुछ भी न कर सकोगे। एक काम ले लो, और उसे ही अच्छी तरह करो। यह साहित्य-सम्बन्धी काम कौन थोड़ा है, जो इधर-उधरके काम सिरपर लेनेके लिए तैयार रहते हो।"

'विशाल भारत' के सहकारी सम्पादक ब्रजमोहन वर्माका 'उर्दू-कविता में इस्लाह' शीर्षक एक लेख अप्रेल १९३१ की 'माधुरी' में छपा था,

जिसमें उन्होंने हिन्दीकी आधुनिक कवितामें क्लिष्टकाव्यको लक्ष्य करके लिखा था--

"किसी प्रकारका नियन्त्रण न रहनेसे आजकल तुकहीन और छन्द-हीन कविताके साथ-साथ अर्थहीन क्लिष्टकाव्यका भी कुछ चलन-सा चल गया है। कुछ लोग कोरे शब्दोंसे भरी हुई अर्थहीन कविताको ही कलाकी पराकाष्ठा समझते हैं। कवि-सम्मेलनोंमें भी ऐसी रचनाएँ पढ़ी जाती हैं। कहते हैं कि एक बार एक मुशायरेमें उर्दूके महाकवि ग़ालिबकी मुश्किल से समझमें आनेवाली कवितापर हकीम आग़ाजानने यह क़िता पढ़ा था--

'अगर अपना कहा तुम आप ही समझे, तो क्या समझे,
मज़ा कहनेका तब है इक कहे, और दूसरा समझे।
कलामे 'मीर' समझे और ज़बाने 'मीरज़ा' समझे,
मगर इनका कहा यह आप समझें या ख़ुदा समझे।'

कहते हैं कि इसके बाद ग़ालिबने अपनी कविता सरल कर दी थी। परन्तु आजकल हमारे हिन्दीकाव्य-जगतमें अनेकों ऐसी रचनाएँ मिलेंगी, जिनके लेखक महोदय साभिमान कह सकते हैं--

'भला वह भी कोई कविता है, जिसको सुन लिया समझे;
नहीं है 'आर्ट' कुछ उसमें, जिसे हर बेपढ़ा समझे,
वही कविता कलामय है, जिसे आलिम तो क्या समझे!
अगर सौ बार सर मारे, तो मुश्किलसे ख़ुदा समझे!"

इसपर द्विवेदीजीने मुझे लिखा था--

"उस दिन चैत्रकी "माधुरी" की कापी मिली। लेख-सूची पढ़ी। उसमें एक लेख मिला--'उर्दू-कवितामें इस्लाह'। उसे पढ़ाकर सुना। बड़ी खुशी हुई। लेख बहुत पसन्द आया। लेखक काव्य-मर्मज्ञ और बड़े ही सरस हृदय हैं। उन्होंने अपने एक मिसरेमें ख़ुदाके साथ रियायत की है। उनका कहना है--

'अगर सौ बार सर मारे तो मुश्किलसे ख़ुदा समझे।'

मुझे यह अन्याय खला है। मेरी रायमें तो—

'अगर सौ साल सर मारे तो शायद ही ख़ुदा समझे।'

यदि वह लाइन इस तरह कही जाती, तो असलियतके ज़ियादह क़रीब पहुँच जाती।

लेखकका नाम ब्रजमोहन वर्मा है। आपके सहकारी सम्पादकका भी यही नाम है। क्या यह लेख उन्हींका है? यदि हाँ, तो आप बड़े ख़ुशकिस्मत हैं, जिन्हें इतना सहृदय और काव्यतत्वज्ञ सहायक मिला।"

अभी कुछ महीने पहले रायपुरके किसी सज्जनका एक आलोचनात्मक निबन्ध किसी मासिक पत्रिकामें छपा था। वह द्विवेदीजीको बहुत पसन्द आया। द्विवेदीजीने मुझसे पूछा—"क्या तुमने वह लेख पढ़ा? उनकी लिखी हुई आलोचना हमें बहुत पसन्द आई। अच्छे-अच्छे लेखक छिपे हुए पड़े हैं। पुस्तकमें जो दोष दिखलाये गये हैं, उन्हें हमने भी पढ़ते समय पहचान लिया था। उस लेखको अवश्य पढ़ना।"

श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयीका एक लेख उन्हें पसन्द आया। एक कार्ड आपने उन्हें भी लिख भेजा। सर्वश्री कालिदास कपूर, राजबहादुर लंगोड़ा, जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी', ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' आदि बीसियों सज्जन ऐसे हैं, जिन्हें द्विवेदीजीने इस प्रकारके पत्र भेजकर समय-समयपर उत्साहित किया है।

अभी उस दिन श्री सुन्दरलालजीने द्विवेदी-मेलेके अवसरपर पूज्य द्विवेदीजीसे मिलकर कहा—"मुझे आपकी उस उत्साहप्रद आलोचनाका एक अंश अब तक याद है, जिसमें आपने 'कर्मयोगी' के विषयमें लिखा था—"देखें, 'कर्मयोगी' अपने कण्टकाकीर्ण पथपर कब तक सुदृढ़ रहता है।"

देशकी साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक प्रगतिसे बराबर सम्पर्क रखनेकी दृष्टिसे द्विवेदीजी अपनी उम्रके अन्य भारतीय नेताओंसे

अधिक सजीव हैं और हमारा यह विश्वास है कि मनुष्यताकी कसौटी-पर द्विवेदीजी हमारे देशके कितने ही सुप्रसिद्ध नेताओंसे कहीं अधिक खरे सिद्ध होंगे।

मेरी एक साध

नवयुवकोंको दाद देकर प्रोत्साहित करनेका गुण पराकाष्ठाको पहुँच गया था पं० पद्मसिंह शर्मामें। मेरे मनमें एक साध रह गई कि कभी द्विवेदी-जी और शर्माजीकी जुगलजोड़ीका साथ-साथ दर्शन करता। पं० पद्म-सिंहजीकी यह इच्छा थी कि द्विवेदीजीके दर्शनार्थ दौलतपुर चला जाय, और उन्होंने इसका प्रोग्राम बनानेके लिए श्रीरघुनन्दन शर्मासे कहा भी था। एक बार पद्मसिंहजीने मेरे पास एक प्रस्ताव भिजवाया था कि दौलतपुरसे द्विवेदीजीको लाया जाय, और आगरेकी नागरी-प्रचारिणी सभामें सत्यनारायण कविरत्नके उत्सवपर प्रधान बनाया जाय। दौलत-पुरसे आगरेतक लानेका काम उन्होंने मेरे सुपुर्द किया था। मैंने इस कामकी ज़िम्मेवारीसे साफ़ इन्कार कर दिया। मुझे क्या मालूम था कि शर्माजी इतनी जल्दी चल बसेंगे, नहीं तो मैं द्विवेदीजीको आगरे बिना लाये न मानता। द्विवेदीजी भी शर्माजीसे मिलनेके इच्छुक थे, इसलिए जब प्रयाग गये थे, तब स्वर्गीय रामजीलाल शर्माके बँगलेपर पं० पद्मसिंहजीसे मिलनेके लिए गये थे; पर पं० पद्मसिंहजी आगरे चले गये थे, इसलिए इन दोनों महारथियोंका मिलन न हो सका। द्विवेदीजीका शर्माजीके सम्बन्धमें निम्न-लिखित श्लोक कितना करुणोत्पादक है—

"संस्मृत्य तेऽद्य सरसञ्च कथा-कलापं
सत्यं वदामि हृदयं शतधा प्रयाति
आर्तस्य निर्गतधृतेर्मम शोक-शान्त्यै
त्वत्सन्निधौ गमनमेव विनिश्चिनोमि।"

द्विवेदीजी जो कुछ पढ़ते हैं, बड़ी सावधानीके साथ पढ़ते हैं। क्या मजाल

कि कोई बात उनसे छूट जाय। 'विशाल भारतमें' प्रकाशित श्री सनेहीजी-की एक कवितामें कुछ अशुद्धियाँ छप गईं। ग़लती प्रेसके भूतोंकी नहीं, वरन् सम्पादकीय स्टाफके भूतोंकी थी। फौरन ही चिट्ठी आई—"कविता-में यह संशोधन क्या आपने किया है? जो जिस विषयमें नहीं जानता, उसे उस विषयमें दख़ल न देना चाहिए। कविता उल्टी अशुद्ध और बन गई।" इसी प्रकार एक संस्कृत कविताकी अशुद्धि उनकी निगाहसे न बचने पाई। उन्होंने मुझसे कहा—"आपको संस्कृत पढ़नी चाहिए और उर्दूका भी अभ्यास करना चाहिए, जिससे ये जो मोटी-छोटी अशुद्धियाँ रह जाती हैं, वे तो न रहा करें।" बात यह है कि द्विवेदीजीको लबड़धोंधों काम निहायत नापसन्द है। वे छात्रावस्थासे ही नियमवद्ध कार्यके पक्षपाती हैं, और प्रत्येक हिन्दी-पत्रकारसे यह आशा रखते हैं कि वह उनकी तरह परिश्रमी और नियमसे चलनेवाला हो।

द्विवेदीजीका सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य

द्विवेदीजीके जीवनके तीन विभाग किये जा सकते हैं; पहला रेलकी नौकरी, दूसरा 'सरस्वती' का सम्पादन और तीसरा किसानोंकी सेवा। इन तीनों विभागोंमें अन्तिम विभाग हमारी समझमें सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि पहले विभागमें जीविका ही मुख्य उद्देश्य थी, दूसरेमें जीविका के साथ-साथ साहित्य-सेवा भी सम्मिलित हो गई थी, पर तीसरा कार्य सर्वथा निःस्वार्थ है, और उसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी। हमारे अधिकांश साहित्य-सेवी एक ऐसी दुनियाके जीव बन जाते हैं, जो साधारण किसान-मज़दूरोंके संसारसे बिलकुल दूर है। उनका रहन-सहन, बातचीत तथा विचार-शैली साधारण जनताके जीवनक्रमसे बिलकुल भिन्न बन जाती हैं। द्विवेदीजी इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि आख़िर किसान ही हमारे अन्नदाता हैं, और उनका ऋण चुकाना हमारा प्रथम कर्तव्य है। द्विवेदीजीके साहित्य-सम्बन्धी कार्यका परिचय तो

हम लोगोंको मिलता रहा है, पर द्विवेदीजी चुपचाप पिछले १५ वर्षसे किसानोंकी जो सेवा कर रहे हैं, उससे हम लोग बिलकुल परिचित नहीं हैं।

काँजी-हाउसका निर्माण

दौलतपुरमें कितने ही जानवर बेचारे ग़रीब किसानोंके खेत खाजाते थे। द्विवेदीजीने ज़िलेके अधिकारियोंसे लिखा-पढ़ी करके वहाँ एक काँजी-हाउस बनवा दिया। इससे ग़रीबोंको बड़ी सुविधा हो गई, यद्यपि उन महानुभावोंको कुछ तकलीफ़ भी हुई, जिनके जानवर दूसरोंके खेतोंमें चरा करते थे, और वे द्विवेदीजीको गालियाँ देते हैं; पर द्विवेदीजीने न तो पहले कभी गालियोंकी परवाह की, न अब करते हैं। जो जन्तु अनधिकारपूर्वक किसी क्षेत्रमें प्रवेश करके उसे चरते हैं--चाहे वे साहित्यक्षेत्रमें हों, या किसानोंके खेतमें--द्विवेदीजी उनकी ख़बर लिये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि यह उनकी पुरानी आदत ठहरी! क्या ही अच्छा हो, यदि द्विवेदीजी हरहट या हरहाही लेखक-लेखिकाओंके लिए भी एक काँजी-हाउस खुलवायें!

द्विवेदीजीने मुझसे पूछा--"तुमने किसानोंके विषयमें क्या-क्या लिखा है?"

मैंने कहा--"लिखा तो कुछ है, पर बहुत कम।"

द्विवेदीजीने कहा--"तो अब लिखो। फ्रान्सके प्रसिद्ध (Indologist) विद्वान प्रोफेसर सिलवाँ लेवीका नाम सुना है? सत्तर वर्षकी उम्रमें भी वे कितना अध्ययन करते हैं, कितना परिश्रम करते हैं! 'अजरामरवत प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत'। और कुछ नहीं कर सकते, तो आगरा-डिस्ट्रिक्ट बोर्डकी पिछले चार वर्षकी रिपोर्ट ही मँगाकर उसका अध्ययन करो। देखो डिस्ट्रिक्ट बोर्डकी आमदनी क्या है, और ग्रामवासियोंके लिए कितना रुपया खर्च होता है। इससे तुम्हें अपने ज़िलेका विशेष हाल

मालूम होगा। ग्रामोंमें स्कूलोंका प्रबन्ध तो कहीं-कहीं है भी, पर दवादारू और सफाईका प्रबन्ध प्रायः नहींके बराबर है।"

मुश्किल तो यह है कि द्विवेदीजी हम लोगोंसे बहुत ज़्यादा आशा रखते हैं। वे स्वयं इस प्रकारके कार्य करते रहे हैं। आजसे कई वर्ष पहले द्विवेदीजीने सहयोग-समितियोंके कार्यके विषयमें एक महत्वपूर्ण लेख लिखा था, और सरकारी अधिकारियों तकने उसकी प्रशंसा की थी। किसानोंके विषयमें भी उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है, कभी अपने नामसे और कभी बिना नामके भी। द्विवेदीजी लेख लिखकर ही सन्तोष नहीं करते, वे अपने विचारोंको कार्यरूपमें परिणत भी करते हैं। एक किसानको मिरगीकी बीमारी थी। आपने सुख संचारक कम्पनी मथुरासे उसके लिए दवा मँगाई। एक शीशी बीचमें ही टूट गई, इसलिए दूसरी शीशी मँगानी पड़ी। उसे अब ६ महीनेसे दौरा नहीं हुआ। द्विवेदीजी आवश्यक दवाइयाँ बराबर अपने पास रखते हैं, जिससे समय-कुसमयपर उनके द्वारा किसानोंकी कुछ सेवा हो सके। पहले तो होमियोपैथिक दवाइयोंका एक बाक्स भी रखते थे, पर यह बाक्स उन्होंने किसी डाक्टरको दे दिया। एक ग़रीब ठाकुरका जानवर काँजी-हाउसमें चला गया। बेचारा भागा हुआ द्विवेदीजीके पास आया। जाड़ेका मौसम था। शरीरपर कपड़े भी नहीं थे। द्विवेदीजीने पूछा—"कपड़े नहीं हैं क्या?" तो वह और भी रोने लगा। द्विवेदीजीने अपने कपड़े उसे दे दिये। यह तो कितनी ही बार हुआ है कि पंचायतने किसी ग़रीब अपराधीपर जुर्माना किया है, और वह जुर्माना द्विवेदीजीको अपने पास से भरना पड़ा है!

भारतकी जनसंख्यामें लगभग ७० फ़ीसदी आदमी कृषि-द्वारा अपना जीवन व्यतीत करते हैं, इसलिए जो साहित्य ७० फ़ीसदीके लिए हितकारक नहीं, उसे लोकोपकारी साहित्य कैसे कह सकते हैं? इस प्रश्नको गणितका मामूली आदमी भी समझ सकता है, पर हमारे अनेक साहित्य-सेवी नहीं समझते! द्विवेदीजीके जीवनकी ख़ूबी यह है कि उनका सुलझा हुआ

दिमाग़ तत्त्वकी बातपर तुरन्त पहुँच जाता है। मैंने उनकी सवामें निवेदन किया—"ओरछा-नरेश दो हज़ार रुपये वार्षिकका पुरस्कार देना चाहते हैं, आपकी इसके विषयमें क्या राय है? मेरे लिए लिख दीजिए।" द्विवेदीजीने लिखा—

"सिर्फ ५ वर्षके लिए। तदनन्तर नियमोंमें संशोधन। प्रतिवर्ष—

१०००) पुरस्कार

सरल और सरस भाषामें एक सर्वोत्कृष्ट पद्यात्मक[1] पुस्तकके लिए—पद्यसंख्या. .से कम न हो। विषय—ग्राम्य जीवनके लाभ, उसमें आये हुए वर्तमान दोष और उनके दूरीकरणके उपाय।

१०००) पुरस्कार प्रतिवर्ष—

सरल और सरस भाषामें लिखी गई सर्वोत्तम पद्यात्मक पुस्तकके लिए —पद्यसंख्या. .से कम न हो। विषय—अपने चरित्रबल, अध्यवसाय और परिश्रमसे ख्याति पाये हुए किसी ग्रामीणका जीवन-चरित्र।

१२–४–३३ —म० प्र० द्विवेदी।"

हमारे यहाँ कितन विद्वान् ऐसे हैं, जो इस प्रकारका प्रस्ताव कर सकते हैं और कितने ऐसे हैं, जो इस प्रकारके प्रस्तावका स्वागत करेंगे?

द्विवेदीजीकी सफलता तथा सजीवताका कारण

यदि कोई हमसे पूछे कि द्विवेदीजीके जीवनके सफलताका रहस्य क्या है? तो हम तुरन्त यही कहेंगे, परिश्रम, ईमानदारी और किफायत सारी।

द्विवेदीजी अपनी ग़रीबी कभी नहीं भूले। आज वह ग़रीब लड़का, जो दालमें आटेके पेड़े डालकर अपनी पेट-पूजा करता था, १३ करोड़

---

[1] "पद्यात्मक" द्विवेदीजीने इसलिए लिखा था कि ओरछा-नरेशने काव्य-ग्रन्थपर ही पुरस्कार देनेकी इच्छा प्रकट की थी।

हिन्दी-भाषा-भाषियोंकी सर्वोत्कृष्ट पूजाका पूर्ण-रूपसे अधिकारी बन गया ! यह सब क्या यों ही हो गया ? नहीं, इसके लिए उस ग़रीब बालकको घोर परिश्रम करना पड़ा, कठिन तपस्या करनी पड़ी ।

द्विवेदीजीके गुणोंमें सबसे अधिक आकर्षक है, उनका निरन्तर दान; तन-दान, धन-दान और मन-दान । किसीने कहा है—"Life means giving"—जीवनका अर्थ है दान । द्विवेदीजीने इस अर्थको खूब समझा है और तभी उनका जीवन सार्थक है । जब कि हम लोग येनकेन प्रकारेण सहस्रपति और लक्षपति बननेके प्रयत्नमें लगे हुए हैं और जब कभी चिन्ता करते हैं तो अपने घरकी, अपने बच्चोंकी, अपने कुटुम्बकी, उस समय यह वृद्ध तपस्वी अपनी कठिन कमाईका पैसा दान करनेमें लगा हुआ है ! गत फरवरीमें उनके पचास रुपयेकी पेंशनमेंसे ७) बच गये । पाँच रुपये उन्होंने पुरुलियाके ईसाई मिशनके कुष्ठाश्रमको भेज दिये । कुछ दिनों बाद जब मिशनके सेक्रेटरीका धन्यवादका पत्र पहुँचा, तो उसे पढ़कर द्विवेदीजीकी आँखें सजल हो गईं । सोचने लगे—"मैंने वे दो रुपये भी क्यों बचा लिये ? क्यों न सातों रुपये मिशनको भेज दिये ?"

द्विवेदीजीके जीवनक्रमको देखकर सुप्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिक एमर्सनका निम्न-लिखित वाक्य याद आ गया—"

"A wise man will extend this lesson to all parts of life and know that it is the part of prudence to face every claimant, and pay every just demand on your time, your talents, or your heart, Always pay; for first or last, you must pay your entire debt. Person and event may stand for a time between you and justice, but it is only a postponement. You must pay at last your own debt. If you are wise, you will dread a prosperity which only loads

you with more. Benefit is the end of nature, but for every benefit, which you receive, a tax is levied. He is great who confers the most benefits. He is base—and that is the one base thing in the universe—to receive favours and render none. In the order of nature we cannot render benefit to those from whom we receive them, or only seldom. But the benefit we receive must be rendred again, line for line, deed for deed, cent for cent, to some body. Beware of too much good staying in your hand. It will fast corrupt and worm worms. Pay it away quickly in some sort."

अर्थात्—'बुद्धिमान आदमी इस सबक़को अच्छी तरह समझ जायगा, और जीवनके प्रत्येक विभागमें उसका उपयोग भी करेगा कि हमारे समय, हमारी योग्यता और हमारे हृदयपर यदि कोई अधिकारी आदमी उचित माँग पेश करता है, तो उसे देनेमें ही बुद्धिमानी है। निरन्तर देते रहो, क्योंकि पहले या पीछे तुम्हें अपना कर्ज़ बराबर चुकाना पड़ेगा। थोड़े समयके लिए तुम्हारे न्यायपथके बीचमें कोई मनुष्य या घटनाएँ भले ही बाधक सिद्ध हों, पर यह टलना थोड़े ही समयके लिए होगा। अन्तमें तो तुम्हें अपना कर्ज़ चुकाना ही होगा। अगर तुम बुद्धिमान हो, तो तुम ऐसे वैभवसे डरोगे, जो तुम्हारे सिरपर और भी बोझ-स्वरूप बन जाय। उपकार ही प्रकृतिका लक्ष्य है; पर जितना ही अधिक तुम उपकृत होते हो, उतना ही अधिक तुमपर टैक्स लगेगा। महापुरुष वही है, जो अधिक-से-अधिक उपकार करे। वह नीच है—और संसारमें यही एक बड़ी नीचता है कि उपकार ग्रहण करना और किसीकी भलाई न करना। प्रकृतिका यह कुछ नियम-सा है कि जो लोग हमारे ऊपर उपकार करते हैं, उनके साथ

उपकार करनेका मौक़ा हमें प्रायः नहीं मिलता, और मिलता भी है तो बहुत कम। लेकिन जो भी उपकार हमारे साथ किया जाय, जो भी लाभ हमें प्राप्त हो, उसे हमें ज्यों-का-त्यों पाई-पाई चुका देना चाहिए, अपने उपकारीको नहीं, तो किसी दूसरेको। सावधान, ! कहीं तुम्हारे हाथमें उपकार करनेकी बहुत-सी शक्ति यों ही खाली न पड़ी रहे। यह शक्ति खाली पड़े-पड़े सड़ जायगी, इसमें कीड़े पड़ जायँगे। किसी न किसी ढंगसे इस शक्तिका उपयोग करो।'

द्विवेदीजीने शायद एमर्सनका यह वाक्य न पढ़ा हो, पर वे आचरण इसीके अनुसार कर रहे हैं। पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण चुकानेके अर्थको उन्होंने खूब हृदयंगम किया है। माता-पिता, पत्नी, जाति, देश, मित्र और शत्रु—सबका ऋण वे नियमानुकूल चुकाते रहे हैं। जब वे साहित्यिक युद्ध-क्षेत्रमें थे, तब विरोधियोंका ऋण उन्होंने मय ब्याजके चुकाया था, और अब अपनी विनम्रता, दया तथा दानशीलताके भारसे उन्हें दबा दिया है। निरन्तर दान ही द्विवेदीजीकी सजीवताका मुख्य कारण है।

द्विवेदीजीमें सब गुण ही गुण हों, सो बात नहीं। पूर्ण निर्दोष तो इस संसारमें कोई नहीं। द्विवेदीजीकी नियमबद्धता दुर्गुणकी सीमा तक पहुँच गई है। उन्हें कौन समझावे कि सबके सब पत्र उत्तर देने लायक़ नहीं होते ? किसी महापुरुषने कहा है—"यदि पत्रोंको एक महीने तक डाल रखा जाय, तो बहुत-से अपने-आप अपना उत्तर दे लेते हैं।" अपने स्वास्थ्यकी वर्तमान स्थितिमें द्विवेदीजीको यह अपना आदर्श-वाक्य बना लेना चाहिए। दूसरा दुर्गुण द्विवेदीजीमें यह है कि कभी-कभी वे अनधिकारी आदमियोंको प्रमाणपत्र दे बैठते हैं। पं० पद्मसिंहजी कहा करते थे कि द्विवेदीजी आशुतोष हैं, खुश हो गये तो बस औढरदानी समझिए। पर उनके 'औढरदान' का परिणाम स्वयं उन व्यक्तियोंके लिए भयंकर सिद्ध होता है। उनका दिमाग़ आसमानपर चढ़ जाता है, और उनके दम्भकी

सीमा नहीं रहती। स्वयं पं० पद्मसिंहजीमें भी यही दुर्गुण था। उनकी दादसे कितने ही आदमियोंका दिमाग़ चढ़ गया। और यदि धृष्ठता क्षन्तव्य समझी जाय, तो हम कहेंगे कि महात्माजी भी इस 'औढरदान' के दुर्गुणसे मुक्त नहीं हैं। निस्सन्देह हमारे लिए इन महापुरुषोंके दोष दिखलाना अनुचित है, पर ईमानदारीका तक़ाज़ा है कि जो बात जैसी समझमें आये, वैसी लिख दी जाय।

द्विवेदीजी दूसरोंको अपनी सेवाका अवसर बहुत कम देते हैं। दूसरोंकी अधिक-से-अधिक सेवा करना और जहाँ तक हो सके दूसरोंसे कमसे-कम सेवा लेना उन्होंने अपने जीवनका एक नियम-सा-बना रखा है। नतीजा यह होता है कि द्विवेदीजी परिश्रम करते-करते स्वयं थक जाते हैं। उनका यह स्वभाव ही पड़ गया है "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।" पर द्विवेदीजीके दुर्गुणोंका आधार भी गुण ही हैं (Even his failings lean to virtue's side)

द्विवेदीजीके यहाँ चार दिन रहा। घंटो बातचीत हुई। आतिथ्य तो द्विवेदीजीने महात्माजीके साथ किसी एक ही स्कूलमें पढ़ा है। क्या मजाल कि अस्वस्थ दशामें भी उनसे कोई चूक हो जाय! इन चार दिनोंकी चार घटनाएँ ख़ासतौरसे मेरे अन्तःकरणपर अंकित हो गई हैं।

एक दिन शामके वक्त द्विवेदीजीको मूर्च्छा आ गई। उसके बाद जब होश आया, तो छोटी लड़कीकी मार्फत मेरे पास सन्देश भेजा—"कहिये तो आपके पास आऊँ।" शामको वे अपने समयका घंटा डेड़ घंटा मुझे दिया करते थे। अत्यन्त कमज़ोरीकी हालतमें भी वे आनेके लिए तैयार थे! मैंने कहला भेजा—"बस, माफ़ कीजिए।"

टहलकर हम लोग लौटे थे। द्विवेदीजीके कमरेके सामने वृक्षोंकी छायामें एक अत्यन्त दुर्बल गाय पड़ी हुई थी। अपने-आप उठ भी नहीं सकती थी। नौकर उसे उठाकर खड़ा करता था। द्विवेदीजीने आज्ञा

दे रखी थी कि इस गायकी टहलमें कोई कमी न होने पावें। जो चारा इसे रुचे, वही खिलाया जाय। द्विवेदीजी उस गायको देखकर बोले--"इस गायने हमें बहुत दूध पिलाया है, और इसे हम अपनी आँखोंके सामने ही रखते हैं।" नौकरको आवाज़ लगाकर कहा--"इसे हरियाली अच्छी लगे, तो वही खिलाओ। थोड़े दिन बाद हमारी भी यही हालत होने-वाली है।"

द्विवेदीजी अपने कमरेमें लेटे हुए थे कि वहाँ एक वृद्धा स्त्री आ गई। बर्षीके दिन ६) उधार लेकर उसने ब्राह्मणोंको पेड़े खिला दिये थे। अब खानेके लिए पैसा नहीं था। अपना दुखड़ा उसने द्विवेदीजीके सामने रोया। द्विवेदीजीने उसे समझाया कि इस तरह उधार लेकर ख़र्च नहीं करना चाहिए। उस वृद्धाका एक ही जवाब था--"अगर ऐसा न करती, तो पचास घर हँसते।"

द्विवेदीजीने उसे एक रुपया दिया, और वह चली गई। अपनी छोटी-सी पेंशनमेंसे उन्हें प्रायः ऐसे ही ख़र्च करने पड़ते हैं।

तीसरे पहरका वक्त था। द्विवेदीजी विश्राम कर चुके थे। एक पंच महाशय आ पहुँचे। एक आदमी एक वृद्धापर नालिश करना चाहता था। उस स्त्रीका पति द्विवेदीजीका कृपापात्र रह चुका था। अब वह विधवा थी। द्विवेदीजी दिलसे नही चाहते थे कि उस दीनाहीना वृद्धा स्त्रीपर नालिश हो। उन्होंने पंच महोदयको समझाया भी कि उसके पास क्या रखा है, पर वे कहते थे कि वह आदमी नालिश करना ही चाहता है। द्विवेदीजीकी तबियत उस दिन ठीक नहीं थी। फिर भी वे उठकर बैठ गये। नियमानुसार उन्होंने पाँच आने पैसे लिये और क़ाग़ज़ोंकी खानापूरी करना प्रारम्भ किया। नाम लिखा ही था कि चक्कर आ गया। कई मिनट लेटे रहे, फिर उठे होल्डर उठाया, और फिर खानापूरी की, फिर चक्कर आगया! लेट रहे। तत्पश्चात् उन्होंने पंचसे कहा--"भाई, अब तुम ही खानापूरी कर लो।" थोड़ी देर बाद तबीयत कुछ शान्त हुई।

द्विवेदीजी बोले––"बुढ़िया समझती होगी कि दुबेजी सरपंच हैं, पर यहाँ अपने बापकी भी रियायत नहीं करनेके।"

ये चारों घटनाएँ आतिथ्य, कृतज्ञता, दानशीलता और कर्तव्यप्रियताके उदाहरणके रूपमें हमें चिरकाल तक याद रहेंगी।

द्विवेदीजीसे मैंने प्रार्थना की कि मुझे आशीर्वाद दीजिए।

उन्होंने कहा––"हमारा आशीर्वाद किस कामका ?"

मैंने कहा––"मैं इस विषयमें प्राचीनतावादी हूँ, बड़ोंके आशीर्वादमें विश्वास रखता हूँ।"

द्विवेदीजीने क़लम उठाई, और निम्न-लिखित आशीर्वाद लिख दिया–

"आत्मानुकूलञ्च विधाय कार्य्यं
सदैव सत्येन पथा प्रयाहि
कुर्वन् स्वशक्त्याथ परोपकारं
बनारसीदास सुखी भव त्वम्।"

इस आशीर्वादमें मानो द्विवेदीजीने सच्चे सुख पानेका नुसख़ा ही बतला दिया है। मेरे जैसे कमज़ोर और अयोग्य आदमीके लिए तो यह अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है, इसलिए प्रबल और योग्यतर आदमियोंके लाभार्थ इसे उद्धृत कर रहा हूँ।

जून १९३३]

सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा

हिन्दी पत्रकार-कलाका पिछला सवासौ वर्षका इतिहास अनेक महत्त्व-पूर्ण घटनाओंसे परिपूर्ण है। यद्यपि उसके बारेमें शुष्क विवरणात्मक ढंगपर लेख तथा निबन्ध लिखे गये हैं, तथापि वह अब भी अपेक्षा कर रहा है ऐसे सजीव लेखकोंकी, जो उसकी सूखी हड्डियोंमें जान डाल सकें, जो उस नाटकको हमारी आँखोंके सामने चित्रित कर सकें। हमारे बीसियों पूर्वजोंके आत्मत्याग तथा बलिदानकी स्फूर्तिप्रद कथाएँ लिखनेको पड़ी हुई हैं, जिनमें कई जीवन चरित्रों तथा पचासों रेखा-चित्रोंका मसाला विद्यमान है। सैकड़ों घटनाएँ ऐसी हैं जो भारतीय पत्रकार-कलाके इति-हासमें स्थान पासकती हैं। बाबू बालमकुन्द गुप्तका इस आधारपर नौकरी-से अलग किया जाना कि वे हिन्दोस्थानमें "गवर्मेण्टके विरुद्ध" कड़े लेख लिखते हैं, बालकृष्ण भट्टका अपने गरम विचारोंके कारण नौकरीसे छुट-कारा, महावीरप्रसाद द्विवेदीका डेढ़सौ रुपयेकी सर्विस छोड़कर बीस रुपये महीनेपर 'सरस्वती'का सम्पादन और गणेशशंकर विद्यार्थीका बलिदान इत्यादि घटनाएँ हिन्दी पत्रकार-कलाके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखी जायेंगी। हमारे पथप्रदर्शक पूर्वजोंने जिन-जिन कठिनाइयोंके बीचमें कार्य किया, उनका वर्णन हमारे लिए उत्साहप्रद तो होगा ही, साथ ही हममें कृतज्ञताके भाव भी जाग्रत करेगा। श्राद्ध भारतीय संस्कृतिका एक विशेष गुण है और उसकी भावनाको जीवित तथा जाग्रत बनाये रखने-को आवश्यकता है।

वैसे हिन्दी-पत्रकारोंका जीवन प्रायः कष्टमय ही रहा है और अब भी उनकी स्थितिमें विशेष सुधार नहीं हो पाया, फिर भी जैसे कष्ट, सम्पादकाचार्य रुद्रदत्तजीको अपने अन्तिम दिनोंमें भोगने पड़े, वैसे शायद

ही किसी अन्य हिन्दी-पत्रकारको भोगने पड़े हों। वे सचमुच भूखों मर गये! और उनकी इस दुर्दशामय मृत्युके लिए आर्यसमाज तथा हिन्दी जगत् समान रूपसे दोषी हैं।

चालीस-पैंतालीस वर्ष तक साहित्य-सेवा तथा हिन्दी-पत्रोंका सम्पादन करनेके बाद औषधि, पथ्य तथा भोजनके लिए तरस-तरसकर प्राण गँवाना, यह अकथनीय दुर्भाग्य था संस्कृतके उस महान विद्वान्, आर्यसमाजके महोपदेशक तथा शास्त्रार्थकर्ता और हिन्दीके उच्चकोटिके लेखक तथा पत्रकारका, जिसका सम्पूर्ण जीवन ही जनताको शिक्षित बनानेमें बीता था!

× × ×

'चौबेजी, मेरी एक अर्ज़ीका आप अंग्रेज़ीमें अनुवाद कर दीजिये।'

एक दिन सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्तजीने घरपर आकर मुझे आज्ञा दी।

बात सन् १९१७ की है। तब मैं इन्दौरके डेली कालेजमें हिन्दी अध्यापक था और सम्पादकाचार्यजी भी उन दिनों इन्दौरमें ही विराजमान थे। जो प्रार्थनापत्र वे अनुवादके लिए लाये थे, उसे हम ज्यों-का-त्यों उद्धृत करते हैं :—

"सेवामें श्रीमन्महोदय प्रधान मन्त्री, इन्दौर राज्य।

"श्रीमन्मान्यवर महोदय,

बहुमान पुरस्सर निवेदन है कि मैं प्रायः ४० वा ४५ वर्षसे हिन्दी साहित्यकी सेवा कर रहा हूँ और इतने अवसरमें मैंने ऐसा अनुभव भी प्राप्त कर लिया है कि जिससे मै ग्रन्थ-रचनाके अतिरिक्त दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रोंका सम्पादन भी उत्तमताके साथ कर सकता हूँ, क्योंकि मैं अंग्रेज़ी, बँगला, गुजराती, और संस्कृत-लेखोंका अनुवाद हिन्दी भाषामें कर सकता हूँ।

इससे पूर्व मैं श्री महाराज देवास (छोटी पाँती) की सेवामें था और वहाँ ग्रन्थ-रचनाका काम करता था, परन्तु उस Post के Reduction में आजानेसे मुझे देवास त्यागना पड़ा, यद्यपि उक्त श्रीमन्त देवास नरेश्वरने

मुझे अनुग्रहपूर्वक 'मालवा समाचार' नामक साप्ताहिक पत्रकी सम्पादकता प्रदान की थी, परन्तु उसका वेतन (Pay) इतना थोड़ा था कि मैं उतनेमें अपने परिवारका पालन नहीं कर सकता था।

देवास देशाधिपति महाराजकी सेवामें आनेसे पूर्व मैं वृन्दावनके 'प्रेम' नामके साप्ताहिक पत्रका सम्पादक था।

मैंने अपने जीवनमें नीचे लिखे समाचारपत्रोंका सफलतासे सम्पादन किया है :

इन्द्रप्रस्थ प्रकाश, दिल्ली	१ वर्ष
भारतमित्र, कलकत्ता साप्ताहिक व दैनिक	१० "
आर्य्यवर्त्त, कलकत्ता	१० "
हिन्दी बंगवासी	२ "
भारतरत्न, पटना	२ "
श्री वेंकटेश्वर समाचार, बम्बई	१ "
आर्य्यमित्र, आगरा	६ "
सत्यवादी, हरद्वार	१ "
हितवार्ता, कलकत्ता	२ "
प्रेम, वृन्दावन	२ "
मारवाड़ी, नागपुर	२ "

पत्र-सम्पादनके अतिरिक्त मेरे बनाये बहुतसे ग्रन्थ भी प्रचलित हैं, जैसे सांख्यशास्त्रका हिन्दी अनुवाद।

योगशास्त्र और व्यासभाष्यका हिन्दी अनुवाद

वीरसिंह दारोग़ा (उपन्यास)

मनोरंजनी (नाटक)

स्वर्गमें सबजैक्ट कमेटी (प्रहसन)

स्वर्गमें महासभा (प्रहसन)

ध्यान विधि योग

शिक्षा-विज्ञान इत्यादि ।

आजकल मैं जर्मन जासूस नामक उपन्यास लिख रहा हूँ, जिसका नमूना इस प्रार्थनापत्रके साथ लगा हुआ है ।

यदि मेरी साहित्य सेवा और दशापर विचार करके श्रीमान् कोई सेवा प्रदान करेंगे तो मैं श्रीमानोंका आजन्म कृतज्ञ बना रहूँगा ।

श्रीमानोंका आज्ञानुवर्ती

सेवक

रुद्रदत्त"

सम्पादकाचार्यजीके आदेशानुसार मैंने अंग्रेज़ीमें उनकी अर्ज़ी लिख दी । यद्यपि मैं सन् १९१०में उनके दर्शन कर चुका था, जब कि वे आर्य-समाज फ़ीरोज़ाबादके उत्सवपर पधारे थे, उनकी सेवामें आर्यमित्र कार्यालय (आगरा)में भी उपस्थित हुआ था और इसके सिवा अनेक वर्षोंसे उनकी भाषा-शैलीका प्रशंसक भी रहा था ('स्वर्गमें सबजैक्ट कमैटी' 'स्वर्गमें महासभा' और 'कंठीजनेऊका ब्याह'का पारायण न जाने कितनी बार मैंने किया था !) तथापि उस समय तक मुझे इस बातका पता नहीं था कि हिन्दी पत्रकार-कलाके लिए उन्होंने कितनी दीर्घ साधना की है ।

उस दिन श्रद्धेय पंडितजीको दयनीय स्थितिमें देखकर हृदयको बड़ा धक्का लगा । बन्धुवर द्वारिकाप्रसादजी सेवकसे इतना तो मुझे पता लग चुका था कि पाँच रुपये महीनेकी ट्यूशनके लिए पंडितजीको तीन मील तुकोगंज आना-जाना पड़ता है !

एक दिन शामके वक़्त मैं उनके स्थानपर भी पहुँचा । नीचे किसी सुनारकी दुकान थी और उसके ऊपर एक छोटी-सी कोठरीमें, जिसका किराया डेढ़ रुपये मासिक था, पंडितजी विद्यमान थे और दो पैसेकी एक टीनकी लेम्पके धुँधले प्रकाशमें कुछ लिख रहे थे ! उन दिनों पंडितजीको भोजनका भी कष्ट था । चालीस वर्षकी हिन्दी-साहित्य-सेवाके बाद किसी विद्वान्की यह दुर्गति हो सकती है, इसकी कल्पना मैंने स्वप्नमें भी न की थी ।

पंडितजीकी सेवामें मैंने निवेदन किया, "आप हिन्दी पत्रकार कला-सम्बन्धी अपने अनुभव लिखदें। शायद उनसे कुछ मिल जाय।"

पंडितजीने अनुभव लिखने आरम्भ किये। मुझे आशा थी कि एक हिन्दी-संस्था द्वारा उन्हें कुछ भेंट दिला सकूँगा, पर दुर्भाग्यसे उस संस्थाके संचालकोंने उसे अस्वीकृत कर दिया! अतएव जो यत्किंचित सेवा मुझसे बन पड़ी, कर दी। पंडितजीको इन्दौरमें कोई काम न मिल सका और वे आगरे लौट आये।

१७ नवम्बर १९१९को उनका स्वर्गवास हो गया। मुसाफ़िर (आगरा)ने अपने २१ नवम्बरके अंकमें लिखा था :—

"हमें पंडित रुद्रदत्तजीको उनकी अन्तिम बीमारीके क़याममें पैसे-पैसेको मोहताज देखकर बड़ा दुख हुआ . . . पंडितजी मरनेके पहले तक़रीबन दो-तीन माह बुख़ार और पेचिशके मर्ज़में मुबतला रहे और इस लाज़मी बेकारीके अय्याममें उनकी आर्थिक दशा यह रही कि हकीम, डाक्टरोंकी फ़ीस तो दर किनार, दवा ख़रीदने तकके लिए उन्हें पैसा मुअस्सर न था।"

सन् १८७५से १९१८ तक ४४ वर्ष तक साहित्य-सेवा तथा सम्पादन कार्य करनेका यह पुरस्कार था! इस दुःखान्त नाटकमें सबसे अधिक उल्लेख योग्य पार्ट है एक ग़रीब कम्पोज़ीटरका, जो अपने पाससे आटा ख़रीदकर उनके घरपर दे आया करता था!

संक्षिप्त विवरण और कुछ अनुभव

पं० रुद्रदत्तजीका जन्म धामपुर ज़िला बिजनौरमें मार्गशीर्ष त्रयोदशी संवत् १८११ (सन् १८५४)को हुआ था। उनके पूज्य पिता पं० शशिनाथजी संस्कृतके महान विद्वान् और ज्योतिषके पूर्ण पंडित थे। रुद्रदत्तजी-की प्रारम्भिक संस्कृत-शिक्षा घरपर ही हुई। तत्पश्चात् अपने चाचाजी-के साथ वे वृन्दावन, मथुरा, और काशी इत्यादि स्थानोंमें विद्योपार्जन करने चले गये। २१ वर्षकी अवस्थामें आप घर लौटे और कुछ दिन अंग्रेज़ी

पढ़ी। तत्पश्चात् मुरादाबाद और सहारनपुरमें आर्य्यसमाजके उपदेशकके पदपर काम किया। फिर उनका पत्र सम्पादनका कार्य्य प्रारम्भ हुआ, जो आजीवन चलता रहा।

तत्कालीन परिस्थिति

उस युगमें सम्पादकोंको किन कठोर परिस्थितियोंमें काम करना पड़ता था, आज हम उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। श्रीलक्ष्मीकान्तजी भट्ट (स्वर्गीय बालकृष्णजी भट्टके सुपुत्र)ने हमें बतलाया था, "जब एक रुपये पाँच आने (हिन्दी प्रदीपका वार्षिक मूल्य) कहींसे आ जाते तो हमारे घरमें घी आता था।" पत्र संचालक प्रायः सेठ-महाजन होते और उनका जो व्यवहार सम्पादकके प्रति होता वह नितान्त असन्तोषजनक और कल्पना विहीन था और सरकार भी देशी भाषाके पत्रोंको शंकाकी दृष्टिसे देखती थी। 'आर्य्यविनय' (सहारनपुर)के अपने सम्पादकीय अनुभवोंके विषयमें पं० रुद्रदत्तजीने लिखा था :—

"एक समय मुरादाबादके टाउन हौलमें आर्य्यसमाजकी ओरसे एक ऐसी सभा हुई कि जिसमें मुरादाबादके रईसोंके अतिरिक्त कलक्टर आदि भी सम्मिलित हुए थे। इस सभामें आर्य्यसमाजकी ओरसे कोई वेद मन्त्र नहीं पढ़ा गया था। इसपर सम्पादककी ओरसे समाजपर आक्षेप 'आर्य्यविनय' में प्रकाशित हुआ था। इससे समाजके बहुत-से सभ्य सम्पादकसे रुष्ट हो गये, यद्यपि सम्पादकने 'आर्य्यविनय'के इस मौटो (सिद्धान्त) वचनके अनुसार उक्त आक्षेप किया था 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषो वाच्या गुरोरपि' अर्थात् शत्रुके भी गुण और अपने गुरुके भी दोष प्रकाशित कर देने चाहिएँ। इस पत्रका प्रत्येक अंक मुझे डिप्टी कलक्टर साहबको सुनाने जाना पड़ता था। इस प्रकारसे कई वर्षतक मैंने इस मासिक पत्रको चलाया था।"

एक बार पं० रुद्रदत्तजीपर सरकारकी ओरसे मुक़दमा चलनेकी

आशंका हो गई थी, लेकिन हिन्दीके सुप्रसिद्ध सेवक ग्रियर्सन साहबने, जो उन दिनों पटनाके कमिश्नर थे, उनकी रक्षा की थी।

"भारत गवर्मेण्ट जब आफ़िशियल सीक्रेट ऐक्ट पास करके चला चुकी थी, तब मुझे भारतमित्र, बंगवासी और हितवार्ताके सम्पादन कार्य्यसे अवकाश मिल गया था और 'आर्य्यावर्त' साप्ताहिक पत्र अपनी समस्त सामग्री सहित दानापुर चला आया था। एक बार मैं दानापुरसे मुज़फ़्फ़र-पुर और वहाँसे जनकपुर गया था। जनकपुर नैपाल राज्यकी सीमाके अन्तर्गत है।

"जनकपुरसे दस-बारह कोस आगे तक चला गया। वहाँ एक बाउंण्ड्री आउटपोस्टके आस-पास कई एक अद्भुत बात देखीं। एक चौकीमें लगभग सौ गोरे सोलज़र और प्रायः २०० बिहारी चौकीदार और कुली देख पड़े। मैं रातको जागा और मार्गसे थका हुआ था, अतएव विश्राम करना चाहता था; परन्तु थोड़ी ही देरके पश्चात् एक नैपाली सिपाही आया और मुझसे कहने लगा कि आपको सूबेदार साहब बुलाते हैं। मैं उठा, सिपाहीके साथ नैपाली सरहदकी चौकीमें पहुँचा....वहाँ जाके देखा कि एक गौर वर्णका मोटा ताज़ा और तेजस्वी मनुष्य पलंगपर बैठा हुआ है। उस तेजस्वी मनुष्यने मुझसे नाम-धाम और आनेका कारण आदि पूछा....फिर उस मनुष्यने मुझे पंडित मानकर ५ रुपये दक्षिणा देके सरहद तक पहुँचा दिया...ख़ैर इन तमाशोंको देखकर मैं दानापुर लौट आया और कल्पित नवन्यासकी रीतिपर आर्य्यावर्तमें एक लेख प्रकाशित किया। इस लेखके प्रकाशित होते ही बड़ा कोलाहल मचा। कलकत्तेकी हाईकोर्टसे उस लेखका अंग्रेज़ी अनुवाद होके पटनेकी पुलिसमें आया और पुलिसके सूपरिंटेंडेंट साहब दानापुर आके आर्य्यावर्त प्रेससे फाइल आदि ले गये। जब सब प्रकारसे अभियोग चलनेका ठीक-ठाक हो गया तब स्वर्गवासी बाबू रामदीनसिंहजी मुझे साथ लेकर कमिश्नर साहबके पास गये और उनको समझाके कहा कि यह लेख कुछ नहीं, वरन् देवी

भागवतमें जो प्रह्लाद और नर-नारायणके युद्धकी कथा है उसके आधारपर यह नवन्यास लिखा गया है।....कमिश्नर साहबने पूर्वोक्त लेखको और उसके अंग्रेज़ी अनुवादको आद्योपान्त पढ़कर कहा कि निस्सन्देह यह एक ऐसा नवन्यास है कि जो आजकलकी अनेक घटनाओंसे मिलता है, परन्तु आप जाइये; सरकारसे इसपर अभियोग नहीं चल सकता, क्योंकि आपने मार्कण्डेय पुराणके श्लोकोंसे अपने लेखको मिला दिया है। इन कमिश्नर का नाम ग्रियर्सन साहब था।"

स्वभाव

पंडितजीके स्वभावमें विचित्र मनमौजीपन था। श्रीबाबूराम शर्मा रसवैद्यने अपने एक लेखमें लिखा था "दीर्घसूत्रताके साथ पंडितजीका घनिष्ठ सम्बन्ध था। पत्रके लिए प्रति सप्ताह ठीक समयपर कापी देना उनके लिए प्रायः असम्भव बात थी; इसलिए प्रेस मैनेजर (प्रबन्ध लेखक) से उनकी यदा कदा कहासुनी हो जाया करती थी, परन्तु यह पारस्परिक वाग्युद्ध क्षणस्थायी ही होता था।....

....पंडितजीने अर्थ संग्रहको कभी भी अपने जीवनका उद्देश्य नहीं बनाया। जहाँ वे स्वेच्छाओंको पूर्ण करनेमें निस्संकोच भावसे द्रव्यका व्यय कर डालते थे, वहाँ दूसरोंको खिलाने-पिलानेमें बड़ी उदारतासे काम लेते थे और ऐसा करनेमें परमानन्दका अनुभव करते थे। अपने हाथसे अँगीठीपर विविध प्रकारकी खाद्य-सामग्री प्रस्तुत करके अपने इष्ट-मित्रोंको खिलानेमें उन्हें अतीव प्रसन्नता हुआ करती थी और इसके साथ या तो शेरख़ानी जारी रहती थी, अथवा संस्कृतके कूट श्लोकोंका पाठ अथवा कोई धार्मिक, सामाजिक या ऐतिहासिक प्रसंग छिड़ जाता था।....

उनके चित्तमें बड़ी दया थी। किसी भूखे-प्यासेको देखकर उसे खिला-पिला देना उनके लिए एक साधारण-सी बात थी। साधारणसे साधारण स्थितिके व्यक्तियोंके दुःख-दर्दमें सम्मिलित होकर उसके प्रतिकार-

की चेष्टा करना उनका स्वभाव था। ऐसे कोमल हृदय, करुणाशील और परोपकारी सज्जनको अपने अन्तिम दिन बड़े ही कष्ट और यातनाओंमें व्यतीत करने पड़े, इससे अधिक खेदकी बात और क्या हो सकती है !"

एक प्रस्ताव

आर्य्यसमाजके नेताओंसे तथा हिन्दी जगत्के धनीधोरियोंसे हमारी प्रार्थना है कि यदि वे और कुछ न कर सकें तो स्वर्गीय पं० रुद्रदत्तजीके कुछ निबन्धोंको उनके संस्मरणोंके साथ पुस्तकाकारमें छपा ही दें। इसमें हज़ार-बारहसौका ख़र्च है।

जिस व्यक्तिने ४४-४५ वर्ष तक अपनी वाणी तथा लेखनीसे हिन्दी संसार और आर्य्यजगत्का इतना हित किया और जिसे अन्तमें भूखों मरना पड़ा, क्या उसकी स्मृति-रक्षाके लिए हम इतना भी न कर सकेंगे ?

मीर साहब

मुसलमानोंको हिन्दी अवश्य पढ़नी चाहिए, और हमें ? हमें उर्दू पढ़नेकी आवश्यकता नहीं। दक्षिण भारतके निवासियोंका यह कर्तव्य है, यह धर्म है कि राष्ट्र-भाषा हिन्दीका अध्ययन करें, और हमारा कर्तव्य क्या है ? तामिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नडी भाषा पढ़ना हमारे लिए बिलकुल व्यर्थ है ! बंगालियोंमें प्रान्तीयता का प्राबल्य है, वे हिन्दीकी ओर ध्यान नही देते। और हम लोगोंमें किस चीज़का प्राबल्य है ? अवश्य ही हम लोगोंमें मिशनरी स्पिरिटका प्राबल्य है, जब कि लाखों ही हिन्दी भाषा-भाषी करोड़ों रुपये इस भूमिसे कमाकर अपने-अपने प्रान्तोंको भेजते हैं और इस भूमिमें राष्ट्र भाषाके प्रचारार्थ एक कानी कौड़ी भी ख़र्च करना हराम समझते हैं। जब काका साहब कालेलकरने एक हिन्दी प्रोफ़ेसरसे कहा कि हमें दक्षिण भारतमें हिन्दी प्रचार करते समय अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, तो उक्त अध्यापक महोदयने उत्तर दिया कि इसमें क्या है, ये कठिनाइयाँ तो चुटकी बजाते दूर हो जायेंगी। काका साहबने पूछा कैसे ? उत्तर मिला--"हम दक्षिण भारतवालोंसे कहेंगे कि भारतमें शासनका केन्द्र सदा उत्तरमें ही रहा है, इसलिए आप उत्तर भारतकी भाषा हिन्दीको पढ़िये।" इस तर्कको सुनकर हमारे दक्षिण भारतके एक मित्र श्रीयुत नारायण स्वामी अय्यरने उत्तर दिया-- "उत्तर भारतमें जो मानसून पहुँचते हैं वे दक्षिणसे ही आते है, इसलिए आप लोगोंको दक्षिण भारतकी भाषाएँ पढ़नी चाहिएँ।"

हाँ, तो मुसलमानोंको हिन्दी अवश्य पढ़नी चाहिए। मीर साहब (सैयद अमीरअली मीर) ने हिन्दी ही पढ़ी थी। साहित्यसेवा और साहित्य-सेवियोंके विषयमें उनके विचार कितने उदार और व्यापक थे,

इसका अनुमान पाठक निम्नलिखित पंक्तियोंसे, जो मीर साहबने २०–१०–२६ को अपने एक पत्रमें राजा लक्ष्मणसिंहकी शताब्दीके अवसरपर लिख भेजी थीं, कर सकते हैं:—

"समकालीन भारतीय कवि और लेखक यदि ऐसा साहित्य निर्माण करें, जो लोगोंको प्रेमरज्जुसे बाँध दे, संगठन करना सिखा दे, हमारी धर्म भावनाओंको स्पर्धा रहित कर दे, आत्म-गौरवके साथ हमें यह कहनेका साहस दिला दे कि घरमें हम १०० और ५ (कौरव-पाण्डव) भले ही हों, पर बाहरके लिए १०५ हैं, और इतना ही क्यों, काम पड़नेपर शान्तिके साथ देशकी वेदीपर हँसते-हँसते बलि हो जानेका आत्मबल उनमें आजाय, घर समाज और उपासना मन्दिरोंमें वे उन धर्मोंका पालन करते हुए देखे जायें, जिन्हें उनकी आत्माने स्वीकृत किया हो, किन्तु जब वे देशके प्रांगणमें, एकत्र हों तब जननी जन्मभूमिके नाते सहोदर भाईकी तरह कंधे-से-कंधे भिड़ाकर खड़े हों, भाईके मानापमानको अपना मानापमान जानें, एकके सुखसे सब सुखी और दुःखसे सब दुःखी हो जायें। यदि हम समयके अनुकूल ऐसा साहित्य उत्पन्न न करके पुरानी लकीरको ही पीटनेका अभ्यास जारी रखेंगे, तो हम लोग अवनतिके गहरे गड्ढेसे कभी बाहर न निकल सकेंगे।

"ऊपर जिस विशुद्ध साहित्यके निर्माण करनेके सम्बन्धमें निवेदन किया गया है, वैसे साहित्य निर्माणके लिए सुयोग्य साहित्यज्ञोंकी आवश्यकता है। स्वभावतः धनी-मानी तो साहित्यज्ञ होते नहीं हैं, जो होते हैं वे प्रायः निर्धन कुलमें जन्म लेनेवाले। वे होश सम्हालते ही नमक, तेल, लकड़ीकी चिन्तामें पड़ जाते है। समृद्धिशाली भारतके पूत अपने ही देश, अपने ही घरमें, अपने ही भाइयों द्वारा न तो सम्मान पानेके अधिकारी हैं, न पेटभर रोटियाँ पानेके। आज भारतमें अनेक अभागे कौड़ियोंके मोलपर अपनी विद्या बुद्धि बेचना चाहते हैं, पर कोई लेनेवाला नहीं! मुझे स्मरण है अभी हालमें एक साहित्य सभाके नामीगरामी सभापतिने एक मेरे सम्भ्रान्त मित्रसे अपना भाषण पीठ ठोंक-ठोंक कर लिखवाया। बदलेमें सभापति

महोदयने साहित्य प्रेमियोंसे तालियोंकी गड़गड़ाहट लूटी, परन्तु लेखकने पाई केवल पचास रुपट्टी । बेचारा मन मारकर रह गया । बर्तमान क़ानून भी ऐसे मानकी रक्षा करनेमें सहायक हैं । किसकी मजाल है कि नाम लिखकर सबूत करदे ? स्वयं इन पंक्तियोंके लेखकको एक पदाधिकारी साहित्याचार्यने एक काव्यग्रन्थके सम्पादन-कार्यमें प्रलोभन देकर कसकर जोता, पर काम हो जानेपर रास्ता दिखला दिया ! एक और मेरे जाने-माने आशुकवि हैं। मुझे मालूम है कि उनकी जीविका सुखमय नही है। इतने कथनका तात्पर्य यह है कि ज़रूरत इस बातकी आ पड़ी है कि साहित्य-सेवियोंकी जीविकाका उचित प्रबन्ध किया जाय। अधिकार तथा धन प्राप्त प्रभुओंके हृदयमें यह बात जँचा देनेकी ज़रूरत है कि विलायती कुत्ते ख़रीदने, सिनेमा कम्पनीके शेयर लेने, गौहरजान, बन्दी जानकी प्रसन्नता प्राप्त करने आदिसे न आपका भला होगा, न जिनके पैसेके बलपर आप ऐश्वर्यभोगी बने हुए हैं, उनका होगा ।"

स्वयं इन आर्थिक कठिनाइयोंके कारण श्रीमान् मीर साहबको एक रियासतकी नौकरी करनी पड़ी थी । उनकी अन्तरात्माको इससे कितना कष्ट हुआ था और साहित्य क्षेत्रमें आनेके लिए उनकी आत्मा कैसे छट-पटाती थी, इसका वृतान्त पाठकोंको निम्नलिखित पत्रसे मिल सकता है:--

"पंडितजी, एक पेन्शनर आदमीकी तरह मैं हिन्दी-साहित्य-सेवाकी ओरसे उदासीन-सा हो गया हूँ इसका मुझे दुःख है । जिस साहित्यसेवासे सेवक अपने नामको अजर-अमर कर जाता है, उसीकी ओरसे मेरा पराङ्मुख होजाना खेदकी बात है । इसे मैं अपना पतन समझता हूँ, और पतनका प्रारम्भ उस दिनसे मानता हूँ, जिस दिनसे मैंने एक देशी राजस्थानमें क़दम रखा और राजसेवाके लिए आगे बढ़ा। सोचा कुछ और था, हुआ कुछ और। राजसेवा तो एक ओर रह गई, राजसेवाके लिए शरीर बिक-सा गया। आज़ादीका नाम-निशान मिट गया। आँखें एक तो ऊपर उठतीं

ही नहीं थीं, यदि उठती ही थीं तो राजा साहबका रुख़ देखनेके लिए। कान बाहरी चर्चा सुननेके लिए बहरे थे, लेकिन राजासाहबके श्रीमुखसे शब्द निकलनेके पूर्व ही (ओष्ठ स्पन्दन होते ही) सतर्क हो जाते थे। जिह्वा हाँमें हाँ मिलानेकी आदी हो गई। सबसे बड़ी सज़ा इसे ही मिली। चौबीसों घंटे, तीसों दिन, बारहों महीना उसे बत्तीस दाँतोंके भीतर एक एकान्तवासी क़ैदीकी तरह रहना पड़ता था। उसे अपनी ओरसे बोलनेका कोई हक़ ही नहीं रह गया था। हाथ दीन-दुखियोंकी सहायताके लिए शायद ही कभी आगे बढ़े हों। रेलवे सिगनलकी तरह वह राजा साहबकी मर्ज़ी पर उठते और गिरते थे, राजा साहबको देखते ही पैर धरतीमें धँस-से जाते थे, लेकिन उनके शासनपर हवाकी तरह वेगवान हो जाते थे। इन वाह्यइन्द्रियोंके व्यापारमें पड़कर मन भी मर गया। उसमें भी अपना कुछ न रह गया। निदान मैं जिन साहित्य-सेवियोंके साथ साहित्य-क्षेत्रमें चल रहा था, उनका साथ छूट गया। अब मैं एक पंख कटे पक्षीकी तरह तड़फता तो हूँ, लेकिन उड़ नहीं सकता।"

मीर साहबको एक अन्य ज़मींदार साहबके यहाँ काम करना पड़ा। परिस्थितिका अन्दाज़ निम्नलिखित पंक्तियोंसे हो सकता है:—

"आपके दो कृपापत्र मिले। उत्तर बहुत बिलम्बसे दे रहा हूँ। गत अगस्त मासमें ज़मींदारीके काममें कई बार बाहर जाना-आना पड़ा। इसके अलावा आफिस क्लार्क बीमार होकर अगस्त मासकी ५ ता० को चला गया है। दूसरे क्लार्कके देनेकी कृपा ज़मींदार साहबने नहीं की। उन्हें मालूम है कि मैनेजर ऐसा नर है, जो पीर बबर्ची भिस्ती ख़रकी उक्तिको चरितार्थ कर सकता है। महाजनी साल दीवालीको समाप्त होता है, इसलिए साल तमामका हिसाब और रिपोर्ट भी इन्हीं दिनों तैयार करनी पड़ती है। दीवानी झगड़े सदा दीवाना बनाते ही रहते हैं, इस पर उम्रका तकाज़ा भी है। घरकी झंझटोंको छोड़ देता हूँ। इस कारण अवकाश नहीं मिल रहा है। जिन श्रीमान्‌के यहाँ मैं हूँ वह वर्तमान सरकारके

अनन्य भक्त हैं। तुलसीदासजीने नव प्रकारकी भक्तियाँ गिनाई हैं। अतः ईश्वरकी भक्ति करनेवाले भी नव प्रकारके भक्त होते हैं। ये राज भक्तिके ख़िताबी (रायबहादुर) भक्त हैं। मालूम नहीं किस संख्यामें इनकी गणना की जाय। ये साहित्यके सम्बन्धमें इतना ही जानते हैं कि उसमें राजको उलट देनेकी शरारत (?)के सिवा और कुछ नहीं है। इसलिए वे अपने नौकरको किसी साधारण सभामें भी जानेकी इजाज़त नहीं देते। खुद भी कुछ नहीं करते और दूसरों को भी नहीं करने देते। वे अपने विभवकी रक्षा वर्तमान राज्य-रक्षामें ही समझते हैं।"

मीर साहबसे कबसे पत्रव्यवहार प्रारम्भ हुआ, यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। आजसे १८, १९ वर्ष पहले जब स्वर्गीय सत्यनारायणजी कविरत्नका 'मालती माधव' का अनुवाद प्रकाशित हुआ था, उस समय मैंने उसकी एक प्रति मीर साहबकी सेवामें भेजी थी। मीर साहबने उसकी स्वीकृतिमें एक बड़ा सुन्दर पत्र भेजा था। वह पत्र तो दुर्भाग्यवश मुझसे खो गया, पर उसमें लिखी हुई कविता अब भी मुझे कंठस्थ है :—

"भारत-मानसजा ब्रजभाषाकी माधुरी जामें रही सरसाई
भावते भावभरे भवभूतिके भारत-नीतिकी नीकी निकाई
ओज प्रसाद-मई कविताकी वही सरिता-सी सदा सुखदाई
भाइ है मीर मनै मनमोहिनी मालती माधव मंजुलताई"

मीर साहबका लिखा हुआ "बूढ़ेका व्याह" मुझे बहुत पसन्द आया था, और उसे मैंने कई बार पढ़ा और दूसरोंको सुनाया भी था। जिन लोगोंने मर्यादामें प्रकाशित मीर साहबके खोजपूर्ण लेख "मुहर मीमाँसा" को पढ़ा, वे उससे प्रभावित हुए बिना न रहे। क्या ही अच्छा होता यदि यह विद्वता साहित्य-क्षेत्रकी सेवामें लगाई जा सकतीं, पर दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हो सका। 'समालोचक' नामक पत्रमें अवश्य पच्चीस रुपए महीनेकी नौकरी उन्हें मिली थी। एक बार जब 'प्रेमा' में श्रीयुत ज़हूरबख़्श जीका एक लेख निकला था तो उसमें कुछ भ्रमात्मक बातें छप गई थीं, यद्यपि लेख

सदुद्देश्यसे लिखा गया प्रतीत होता था। उस लेखकी भ्रमपूर्ण बातोंके विषयमें मैंने मीर साहबसे पूछा था। उन्होंने अपने १७–४–३१ के पत्रमें लिखा था :—

"समालोचक-सम्पादकने ३० रु० मासिकपर नहीं २५ रु० पर रखा था। 'समालोचक' को त्याग कर मैं नहीं भाग निकला, बल्कि अर्थाभावके कारण 'समालोचक' मेरा भार न सम्हाल सका। इसके सिवा मैं भाई अब्दुलग़नीके सामने आज़ाद न था, और भाई ग़नी २३, २४ वर्षीय नव जवान आदमी थे। और मैं ५४ सालका बूढ़ा पेंशनर बैठाल देने योग्य आदमी था, इसलिए विचारोंमें सामञ्जस्य स्वभावतः सम्भव न था, तो भी ग़नीने अन्त तक मेरा मान रखा'। इसलिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।"

मीर साहबका हिन्दी-प्रेम

मीरसाहबके विषयमें श्रीरामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'कविता-कौमुदी' द्वितीय भागमें एक सुन्दर परिचयात्मक लेख है। उसमेंसे हम निम्नलिखित अंश उद्धृत करते हैं:—

"सन् १८९५ देवरीमें 'मीर मण्डल कवि समाज''' की स्थापना हुई। मीर साहबकी अध्यक्षतामें इस कवि समाजने लगातार सात-आठ वर्षों तक ख़ूब काम किया। इतने समय तक देवरीमें साहित्य विषयक चर्चा जोरोंके साथ चलती रही। इसके फलस्वरूप यहाँके कुछ नवयुवकों तथा विद्यार्थियोंकी रुचि साहित्यकी ओर आकर्षित हुई। इनके शिष्य समुदायमेंसे अनेक आज सुकवि, लेखक, ग्रन्थ प्रकाशक तथा सुचित्रकारके नामसे ख्यात हो रहे हैं। इनके दिये उत्साह और श्री लक्ष्मीनारायण वकील, औरंगाबाद की आर्थिक सहायतासे श्रीयुत मंजु सुशीलने 'लक्ष्मी' मासिक पत्रिकाका संपादन उसकी प्रारम्भिक दशामें योग्यता पूर्वक किया। उसमें मीर साहबका विशेष हाथ रहा करता था। इसी समय श्री नाथूराम प्रेमीसे

'जैन मित्र' में लेख लिखाना प्रारम्भ कराया। परिणाम यह हुआ कि वे आगे चलकर उसी पत्रके सम्पादक हो गये। मीर साहबका विचार था कि इस क़सबेमें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करदी जाय, जिससे कुछ सुयोग्य सम्पादक, लेखक, कवि, व्याख्याता और वैद्य होकर जनताकी सेवा करने लगें, परन्तु इस विचारमें ये सफलता प्राप्त न कर सके, जिसका इन्हें आज भी खेद है।

"देवरीमें सन् १९०७ में जिस समय पहली बार प्लेगका आक्रमण हुआ, उस समय वहाँके मालगुज़ार स्वर्गीय लाला भवानीप्रसादके अर्थ साहाय्यसे मीर साहबने जनताकी प्रशंसनीय सेवा की थी। इनके हाथसे लगभग ४७५ आदमियोंकी चिकित्सा हुई थी, जिसमेंसे सैकड़ा पीछे ८३ रोगियोंको आरोग्य प्राप्त हुआ था।

"इनके शान्त प्रयत्नसे देवरीमें स्वदेशी कपड़े तथा शक्करका ख़ूब प्रचार हुआ था। मीर साहब गोरक्षाके भी बहुत पक्षपाती हैं। इनके मतसे भारतमें कृषिकार्यके लिए गो-वंशकी रक्षा करना नितान्त आवश्यक है। ये कहा करते हैं कि यदि गो वंशका विनाश जारी रहा तो निकट भविष्यमें यहाँके किसानोंको विलायती बिज़ारोंका मुहताज होना पड़ेगा। बहुत दिन पहले कलकत्तेके हासानन्द वर्माने गोरक्षाके लिए चन्देकी अपील की थी। उस समय इन्होंने देवरीमें बड़ा परिश्रम करके चन्दा भिजवाया था। इनकी प्रतिभा हिन्दू शास्त्र और पुराणोंकी कथाप्रसंग जाननेमें बहुत बढ़ी चढ़ी है। गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणपर इनको अतुल अनुराग है। इनकी भाषा ख़ूब परिमार्जित हिन्दी है।"

हम लोगोंकी अदूरदर्शिता

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह बात स्पष्ट है कि मीर साहव हिन्दू संस्कृतिसे कितने प्रभावित थे और हिन्दीके लिए उन्होंने क्या-क्या उद्योग किये। मीर साहबकी सहृदयता तथा सद्भावनाका पता उनकी कविताओंसे लग

सकता है । क्या हम लोगोंका यह कर्तव्य नहीं था कि हम ऐसे सहृदय सज्जनकी धार्मिक भावनाओंका सम्मान करते ?

अपने २१-९-३४ के पत्रमें मीर साहबने लिखा था--"हिन्दी-साहित्य सम्मेलनके कर्णधार मेरे एक अवांछित किन्तु विवश होकर किये हुए कामसे शायद नाराज़ हो गये हैं । मुझसे अपराध यह बना था कि श्री.......के एक सम्पादकीय लेखसे जो उन्होंने ३-४ वर्ष पूर्व 'सम्मेलन-पत्रिकामें' प्रकाशित किया था, मुझे दुःख हुआ था । उन्होने ज़ोर दिया था कि हिन्दीमेंसे उर्दूको निकाल बाहर करो । जो सम्मेलन एक बार नहीं, दो बार यह बात स्वीकार कर चुका हो कि हिन्दी-उर्दूमें लिपिभेदके सिवा और कुछ भेद नहीं है, उसी सम्मेलनकी प्रमुख पत्रिका द्वारा उर्दूके बहिष्कारका आयोजन किया जाय, यह कैसा आश्चर्य है । मैं प्रारम्भसे स्थायी समितिका नाममात्रका सभासद था । मैंने उस सभासदीसे स्तीफा दे दिया । कारण साफ लिख दिया कि मैं नहीं चाहता कि जब कभी हिन्दी-विकासका सच्चा इतिहास लिखा जाय--जो अवश्य ही लिखा जायगा--उसमें यह भी लिखे जानेका अवसर मिले कि उर्दूके बहिष्कारके समय एक मीर ज़ाफर भी था । सम्मेलनने एक बार त्यागपत्र पर विचार करनेका अवसर तो दिया था, लेकिन मेरे समाधानका कोई यत्न न किया था, जिसका यही अर्थ हो सकता है कि सम्मेलन उक्त सज्जनकी रायका समर्थक है । किसी पत्र या पत्रिकाने इसका विरोध किया था या नहीं, सो मुझे मालूम नहीं ।"

यह पत्र पानेपर मैंने मीर साहबकी सेवामें स्वर्गीय पं० पद्मसिंहजी शर्मा द्वारा लिखित और हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित "हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी" नामक निबन्ध भेज दिया था, जिसे पढ़कर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए, और उन्होंने अपने ९-१०-३४ के पत्रमें मुझे लिखा था--

"आपने कृपाकर मेरे अज्ञान अन्धकारको दूर करने तथा जिज्ञासा-की पूर्ति करनेके लिए जो "हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी" शीर्षक निबन्ध पुस्तकाकारमें भेज दिया है, तदर्थ अनेक धन्यवाद । दुःखकी बात है कि आज

पं० पद्मसिंह शर्मा हम लोगोंमें नहीं हैं। ऐसी चमत्कृत और परिष्कृत बुद्धिवाला निरपेक्ष विद्वान यदि कुछ दिन और जीवित रहता तो अपना पक्ष प्रबल करके हिन्दीका भला कर जाता। हिन्दीका भला हिन्दू-मुसलमानोंका भला ही नहीं, प्रत्युत देशका भला कहलाता। निबन्धपर आपने विस्तृत समालोचना लिखनेका आदेश दिया है। भला मैं और आलोचना? जिस विद्वान की लेखनीने 'विहारी-विहार' की समुचित समालोचना करके विद्यावारिधि जैसे उपाधिधारियोंके छक्के छुड़ा दिये थे, उसकी कृतिकी आलोचना यदि मेरे समान व्यक्ति करे तो कहना होगा कि बौना (वामन) एड़ी उठाकर आकाश छूना चाहता है। मैं इस निबन्धको अबतक हिन्दी उर्दूके पक्ष-विपक्षमें लिखे गये लेखों, निबन्धों और पुस्तकोंकी समुचित विवेचनाके पश्चात् एक ऐसा फैसला मानता हूँ जो मानो हर पहलुओंपर नज़र करके किया गया हो। मेरा ख़याल है कि प्रिवी कौंसिलके फैसलेके समान यह फैसला बहुत समय तक अटल रहेगा, भावी इतिहासकार स्वर्गीय शर्माजीको-हिन्दी उर्दू विप्लवको दूर कराके समता स्थापन करनेवाला 'लेनिन' कहेंगे!"

जब 'इस्लामका-विष वृक्ष' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उस समय श्री मीर साहब को बड़ा दुःख हुआ था। इस विषयपर उनके कई पत्र भी आये थे। २२-७-३३ के पत्रमें उन्होंने लिखा था--"किसी धर्म, जाति या व्यक्ति विशेषपर किये जानेवाले बेजा आक्षेपोंको मैं बिलकुल पसन्द नहीं करता। इस प्रकारकी मनोवृत्तिको राजप्रभावसे उत्तेजन मिलता है, ऐसा भी कहा जा सकता है।"

८-८-३३ के पत्रमें मीर साहबने फिर लिखा था--"गत रात्रिको 'विषवृक्ष' के ६९ पन्ने पढ़ डाले। पढ़नेसे पहले मैंने अपने मनको पक्का कर लिया था, इसलिए उसे निरपेक्ष दृष्टिसे ही पढ़ा। मैं मानता हूँ कि पुस्तकको ऐतिहासिक ढंगसे लिखनेका प्रयास लेखकने किया है, पर उसके लिखनेमें उन्होंने जिन लेखकों और पुस्तकोंकी दुहाई दी है, प्रायः वे सब मुस्लिम

विरोधियोंमें-से हैं, जो विपक्षीको हानि पहुँचानेकी दृष्टिसे ही लिखी गई है । आज भी भारतके संबंधका इतिहास यदि हम यूरोपकी पुस्तकोंके आधारपर लिखें, तो सिवा इसके कि भारतीय अयोग्य अशिक्षित और अदूरदर्शी हैं और क्या लिखेंगे ? लेखकने 'पिये रुधिर पय ना पिये लगी पयोधर जोंक' वाली उक्तिको चरितार्थ किया है ।"

हम चाहते तो यह हैं कि मुसलमान लोग हिन्दीकी अधिकाधिक सेवा करें, पर उनकी धार्मिक भावनाओंकी रक्षा करनेके बजाय उन्हें उल्टी चोट पहुँचाते है ।

मीर साहब साम्प्रदायिकतासे घृणा करते थे और उसके असली कारणोंको भी पहचानते थे । अपने ९–१०–३४ के पत्रमें उन्होंने लिखा था—

"आपके विशुद्ध राष्ट्रिय हृदयका मुझे पता है। आपका हृदय साम्प्रदायिक झगड़ोंको देखकर दुःखी होता है, लेकिन मेरा अनुमान है कि साम्प्रदायिकताके विषवृक्ष उस समय तक हरेभरे बने रहेंगे, जबतक उन्हें वर्तमान शासनकी उर्बरा भूमि आश्रय देती रहेगी और धर्म नाम की नदियोंसे (नालियों से कहना अधिक उपयुक्त होगा) पानी मिलता रहेगा। निकट भविष्यमें इनके सूखनेके लक्षण दिखाई नहीं देते । भारतको सन् १९१९ में या शायद २० में जो रिफार्म मिला, उसके परिणाम स्वरूप साम्प्रदायिकतामें बाढ़-सी आगई। चुनाव सम्बन्धी पृथक निर्वाचन प्रथा भारतके लिए अत्यन्त भयंकर सिद्ध हुई है। इतने पर सफेद काग़ज़, जिसे कोरा काग़ज़ भी कह सकते हैं, इस कुप्रथाकी रजिस्ट्री करने आ रहा है । एक तो यों ही धनवादने चुनावके सम्बन्धमें गुणका द्वार बन्द कर रखा है । वोटरोंका चुनाव धनके पैमानेसे किया जाता है । इस पर दी तो जाती है राष्ट्रकी दुहाई, परन्तु अमलमें लाया जाता है पन्थ-पक्ष, धर्म-पक्ष नहीं । मेरी ईश्वरभक्ति और आशावादिता मुझे विश्वास दिलाती है कि अभी समय नहीं आया । ईश्वरकी कृपाकोर दूसरी ओर ही है कविवर रहीम ने ठीक ही कहा है:—

"अब रहीम चुप ह्वै रहौ, समुझि दिननको फेर

जब दिन नीके आइ हैं बनत न लगि है देर।"

फिर लिखा था—"१४अक्टूबरके बाद आप कुछ दिन आगरेमें रहेंगे, यह सूचना मिल चुकी है। आवश्यकता होगी तो आगरेके पतेपर पत्र भेजूंगा। सुना जा रहा है कि आरती और नमाज़का झगड़ा वहाँ अब तक जारी है। आश्चर्यकी बात है कि मन्दिर भी पुराना है और मसजिद भी पुरानी है, आज तक न तो आरती ही बन्द हुई होगी न नमाज़। फिर यह नया झगड़ा कैसा? पृथक निर्वाचनका बुरा हो, यह सब उसीकी करामात है। धर्म (मानव) के मर्मको न समझ सकने का यह परिणाम है।"

जब महात्मा गान्धीके सभापतित्वमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनका इन्दौरमें दूसरी बार अधिवेशन होनेवाला था, उस समय हमने साहित्य-परिषदके लिए मीर साहबका नाम उपस्थित किया था। सितम्बर सन १९३४ के विशालभारतमें हमने लिखा था:—

"साहित्य-सम्मेलनके साथ जो अन्य परिषदें हुआ करती हैं, उनके विषयमें हमें कुछ भी कहनेका अधिकार नहीं। हाँ, केवल साहित्य-परिषदके विषयमें एक बात कहनी है। वह यह कि उक्त परिषदका सभापतित्व इस बार सैयद अमीर अली मीरको समर्पित किया जाना चाहिए। मीर साहबके पक्षमें कई बातें कही जा सकती हैं। सर्व प्रथम बात तो यह है कि वे इस पदके सर्वथा योग्य हैं। पचीस-तीस वर्षसे वे निस्स्वार्थ भावसे साहित्य सेवा कर रहे हैं। उनका जीवन एक निर्धन साहित्यिकका जीवन है, जिसमें कष्टोंकी भरमार होती है और गुणग्राहकताका अभाव, जो उस रेगिस्तानकी तरह है, जिसमें कोई नख़लिस्तान नहीं, कोई हरी भरी भूमि नहीं।

"दूसरा कारण जिसे हम कम महत्व नहीं देते, यह है कि अभी तक हमने हिन्दी-साहित्यसेवी मुसलमानोंका समुचित सम्मान नहीं किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन अकेले हिन्दुओंकी चीज़ तो है नहीं, और सच पूछा जाँय तो प्राचीन हिन्दी साहित्यका एक तिहाई भाग या तो मुसलमान लेखकों-

का लिखा हुआ है, अथवा उसका निर्माण मुसलमान शासकोंकी संरक्षकतामें हुआ था। क्या हम उस महान सेवाको कभी भूल सकते हैं, जो रहीम, रसखान, सम्राट अकबर इत्यादिने हिन्दी भाषाकी की थी ? अकेले रहीमने ही लाखों रुपये दान देकर अनेक हिन्दी कवियोंको प्रोत्साहित किया था, और स्वयं तो वे ऊँचे दर्जेके कवि थे ही। उनके दोहे आज प्रत्येक हिन्दी प्रेमीकी ज़बानपर हैं, और लोक प्रियताकी दृष्टिसे रहीमके दोहोंको जो स्थान मिला है, वह कविवर विहारीके दोहोंको भी नहीं मिल सका।

"कृतज्ञताका तो तकाज़ा है ही, साथ ही यदि हम चाहते हैं कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन केवल हिन्दुओंकी ही संस्था न बनी रहे और उसका दायरा अधिक विस्तृत हो तो हमें किसी सुयोग्य मुसलमान भाईको उसका सभापति बनाना चाहिए। इस प्रकार मीर साहबका हक़ अन्य किसी सभापतिके हक़से दूना हो जाता है।"

मेरे इस नोटको पढ़कर मीर साहबने लिखा था:--"रामने अत्रि आदि ऋषियोंको जो आनन्द दिया, क्या निषाद, शवरी और जटायुको उससे कम दिया ? संसारके साधारण नियमके अनुसार अत्रि आदितो आदरके पात्र थे ही किन्तु न थे तो निषादादि। इसलिए उन्हें जो आदर रामकी ओर से मिला वह सर्वथा सराहनीय है। आज आप लोग भी मुझे--निषादादिके समान व्यक्तिको--ऊपर उठाकर आदर देनेको लालायित हो रहे हैं। इस संबंधमें हिन्दी प्रेमी तथा विज्ञजनोंको दोषी नहीं ठहरा सकता, जैन-साहित्यमें एक क्षणमासिक कवि हुआ है, जो वर्षमें केवल दो पद्य रच सकता था। उनकी ख्याति यदि हेमचन्द्रादिके समान नहीं हुई तो कौन-सा आश्चर्य है ? मैंने हिन्दी-सेवाका आज तक कोई ठोस काम नहीं किया। कोई अजर-अमर ग्रन्थ भी नहीं रचा। साधारण हिन्दीके सिवा कोई दूसरी भाषा भी नहीं पढ़ी। घरकी चौखट छोड़कर बाहर क़दम भी नहीं रखा। ऐसे अल्पज्ञ व्यक्तिको केवल बुढ़ापेका मान देकर आप हिन्दी साहित्यको कौन-सा लाभ पहुँचा सकेंगे ? ये पंक्तियाँ मैं आपके हृदयको

दुखानेको नहीं, विशुद्ध भावनासे लिख रहा हूँ। जिस समय मुमताज़ अली आपके पास से लौटकर आया था, उस समय भी आपने इसी प्रकारकी इच्छा प्रकट की थी। उस समय आप मुझे कलकत्तेकी किसी सभामें हिन्दी व्याख्यान देते हुए देखना चाहते थे और अब इन्दौरमें, वह भी महात्मा गान्धी-जैसे असाधारण व्यक्तिके सामने! "रवि सम्मुख खद्योत अँजोरी" की उक्ति चरितार्थ होगी।"

दूसरे पत्रमें मीर साहबने लिखा था "अब रही साहित्य परिषद्के सभापतिके पदकी बात। इस सम्बन्धमें हाँ कहना तो दीक्षा लेनेके समान सरल किन्तु 'निवाह' सीधा देनेके समान दुरूह होगा। सभापतिका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। मैं स्वयंको उस पदके सर्वथा अयोग्य पाता हूँ। इस समय हिन्दी-साहित्य-रथके रथी संस्कृतके सिवा पाश्चात्य विद्याके धुरन्धर विद्वान हैं। उनका सन्तोष एक साधारण हिन्दी जाननेवाला केवल आयु (बूढ़े) और जाति (मुस्लिम) होनेके नाते कैसे करा सकेगा? सहज सुहृदवर! नाम और मान पानेकी इच्छा मनुष्यमें नेचरल है। मैं भी मनुष्य ही हूँ, लेकिन साहस करना जैसे और बात है, किन्तु दुस्साहस और। कहीं ऐसा न हो कि मेरी स्वीकृति समयपर दुस्साहस समझी जाय, मैं अयोग्य साबित होऊँ और उस समय आप सहित मेरे समस्त शुभैषी मित्रोंको लज्जित होना पड़े। यदि आप यह चाहते हैं कि भावी इतिहासकार यह न कह सकें कि जिस मुस्लिम जातिने हिन्दीका केवल नामकरण संस्कार ही नहीं किया, प्रत्युत उसे शाही दरबार तक पहुँचाकर उर्दू ए मुअल्लाका पद दिला दिया, उस मुस्लिम जातिको बीसवीं सदीके हिन्दी साहित्यिज्ञों-ने आदर सम्मान नहीं किया तो मैं कहूँगा कि इस कामके लिए श्री अबुल-कलाम आज़ाद या अल्लामा सुलेमान नदवीको चुनिये। आपको पछताना न पड़ेगा, हिन्दी साहित्यको अभूतपूर्व प्रगति मिलेगी। यदि हिन्दी-साहित्य-सेवी मुसलमानोंसे ही किसीको चुनना है तो श्री पीरमुहम्मद मूनिस (बेतिया) को चुनिये या श्री अख़्तर हुसेन रायपुरीको। ये लोग अप टू डेट

हैं, आप भी इनसे परिचित हैं ही। यदि आपकी इच्छा मुझे ही ठोक-पीटकर वैद्यराज बनानेकी है, तो वायदा कीजिए कि भाषण लिखनेकी सामग्री केवल जुटा ही न देंगे, वरन् काम पड़ने पर लिख भी देंगे और मैदाने जंगमें पुश्तपनाह रहेंगे। इस अभयदानको देकर भाषणकी रूपरेखा (संक्षिप्त नोट्स) लिख भेजिये, जिससे मैं तत्सम्बन्धी मसाला जुटाने लगूँ। बूढ़ी लेखनी है, बहुत धीरे-धीरे चलेगी।"

दुःखकी बात है कि सम्मेलनके कर्णधारोंने मेरे इस प्रस्तावपर कि मीर साहबको साहित्य-परिषदका सभापति बनाया जाय, कोई ध्यान नहीं दिया! 'कर्मवीर' को छोड़कर अन्य किसी पत्रने उसका समर्थन भी नहीं किया!

एक चिट्ठीमें मैंने मीर साहबकी सेवामें निवेदन किया था कि हम लोग अपने साहित्य-सेवियोंका उचित सम्मान नहीं करते, हिन्दी संसारका यह बड़ा भारी दोष है, उसका उत्तर देते हुए मीर साहबने लिखा था--"हिन्दी संसार दोषी नहीं है, मैं दोषी हूँ। मैं न जाने कितने वर्षोंसे हिन्दी क्षेत्रसे ग़ैरहाज़िर हूँ। अब जिनके हाथमें हिन्दीका मैदान है, वे मशीन युगके ज्ञाता हैं, मेरा पुराने ढर्रेका छकड़ा उनके साथ कैसे चल सकता है? मेरा ख़्याल है कि आजकलके हिन्दी साहित्यिक लेखादि पाश्चात्य साहित्यके ऋणी रहते हैं। जिन बैंकोंसे आधुनिक लेखक लेन-देन करते हैं, उनमें मेरा खाता नहीं खुल सकता। लाचार हूँ।"

मीर साहबकी उपेक्षा

कर्मवीर सम्पादक श्री माखनलालजी चतुर्वेदीने गत ३० जनवरीके अंकमें लिखा है "हमें तो यही दुःख है कि हमने मीर साहबको उपेक्षित अवस्था-में मरजाने दिया।" पर उपेक्षाकी कोई हद भी होती है! अपने २१-९-३४ के पत्रमें मीर साहबने लिखा था--"जिस हिन्दी-साहित्य और मुसलमान शीर्षक लेखको कुछ संशोधनके साथ ही सही, आपने 'विशालभारत' के साहित्यिकमें स्थान देकर उत्साह बढ़ाया था, वह मुजफ्फरपुरके हिन्दी

साहित्य सम्मेलनके लिए लिखा और भेजा गया था। मालूम नहीं वह वहाँ पेश भी किया गया था या नहीं, क्योंकि कई पत्र भेजनेपर भी न तो मुजफ्फरपुरसे कोई उत्तर मिला, न प्रयागसे? वह कार्य विवरण पुस्तकमें छपा या नहीं इसका भी पता नहीं मिला! अभी जो लेख "मातृभाषाकी महत्ता" सम्बन्धी द्विवेदी–मेला–समिति द्वारा चुना जाकर प्रकाशनार्थ सम्मेलनको दिया गया है, उस सम्बन्धमें भी उक्त समितिके मन्त्रीजीके पास मैं दो-तीन पत्र भेज चुका हूँ कि उक्त लेखको सम्मेलन एक बार ही छपा सकेगा। और उसकी छपी प्रथमावृत्ति दो अढ़ाई सालके अन्दर चाहे बिक जावे या नहीं, द्वितीयावृत्तिके छपाने या छपवानेका अधिकार मेरा होगा, कोई उत्तर नहीं मिला! इसका मुख्य कारण सम्मेलनका मौन ही होगा, मन्त्री बेचारे क्या करें?"

९-१०-३४ के पत्रमें मीर साहबने मुझसे फिर पूछा था—"श्री द्विवेदीजीको जो अभिनन्दन ग्रन्थ भेंटमें दिया गया है, उसमें 'राजचर्या' शीर्षक कोई कविता छपी है क्या? वह मैंने भेजी थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलनोंके कार्य विवरण पुस्तकोंमें भेजे निबन्धोंको स्थान मिला है या नहीं?"

वह बूढ़ा साहित्यसेवी कमसे कम इतनी उपेक्षाके तो योग्य न था जब हम खयाल करते हैं कि यह उपेक्षा एक ऐसे मुसलिम सज्जनके साथ की गई है जो जिन्दगी भर निर्धनताके साथ युद्ध करते हुए भी हिन्दी साहित्यकी सेवा करता रहा, तो और भी खेद होता है।

आज मीर साहबके एक लेखके निम्न लिखित शब्द हमें याद आ रहे हैं—

भारतीय मुसलमानोंने हिन्दू साहित्यसे काव्य, ज्योतिष, सामुद्रिक, संगीत, नीति, नाटक, तथा, गणित, इतिहास, पिंगल, रस निरुपण, वैद्यक, भक्ति, और वेदान्त आदि ललित कलाओंका ज्ञान इतना उच्च श्रेणीका प्राप्त किया था कि हिन्दुओंको भी आश्चर्य होता होगा। क्या यह कम अभिमानकी बात है कि रसलीन जैसे भाषाकाव्यके प्रकाण्ड पंडित आचार्य

कहलावें, मलिक मुहम्मद महाकवि गिने जाँय, अकरमकैज संस्कृतमें "वृत्त-माल" जैसा पिंगल ग्रन्थ निर्माण करें, अकबर खाँ अजयगढ़ी 'योगदर्पण-सार' जैसा वैद्यक ग्रन्थ लिखें, ताहिर छन्दवद्ध "कोकशास्त्र" लिखकर नाम पावें, बीजापुरका इब्राहीम आदिलशाह बादशाह होकर नवों रसों और रागोंपर ग्रन्थ लिखे और हिन्दीको (फारसी हटाकर) राज्य भाषाके पदपर बिठावें। क्या यह कम उदारताकी बात है ? अमीर खुसरोसे पूर्व हिन्दी में 'पहेली' और मुकरियाँ किस हिन्दी कविने लिखी थीं ? 'नूरक और चन्दा' प्रणेता मुलतान दाऊदसे पहले हिन्दीमें प्रेमकथा लिखनेका मार्ग किसने प्रशस्त किया था ?

"ख़ूबीकी बात तो यह है कि साधारण श्रेणीके मुसलमानोंसे लेकर बड़े-बड़े उच्च कर्मचारी सेनापति और प्रधान मंत्री तक तथा मनसबदारोंसे लेकर बादशाह तक हिन्दीके रंगमें रँग जाते थे, ये कविता पढ़ते, रचना करते, अनुवाद करते और उदारतापूर्वक कवियोंको आश्रय दे ग्रन्थ रचना कराते थे।"

"मुगल दरबारोंमें हिन्दी कवियोंकी भीड़ लगी रहती थी। उनमेंसे कितने कवि तो इतने मालदार हो गये थे कि वे दूसरे कवियोंको अयाचक बना देते थे। शाहजहाँनी दरबारके कवि हरिनाथने एक कविको एक दोहे पर एक लाख रुपया दे डाला था। उपर्युक्त बातोंको ध्यानमें रखकर यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हिन्दीको जीवित रखने और उसको राष्ट्र भाषा बनानेमें मुसलमानोंका ज़बरदस्त हाथ रहा है।"

और कुछ नहीं तो मुसलमानोंकी हिन्दी-साहित्यसेवाका ख़याल करके ही हमें मीर साहबकी उपेक्षा न करनी चाहिए थी।

शतपति मीर साहब

'द्विवेदी-मेले' के अवसर पर पूज्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीने अपने पाससे सौ रुपये का पुरस्कार इसलिए दिया था कि वह मातृ

भाषाकी महत्ता पर लिखे गये सर्वोत्तम निबन्धके लेखकको दिया जाय ।

इस प्रतियोगितामें मीर साहबने भी भाग लिया था, यह समाचार जानकर मुझे आश्चर्य हुआ । मीर साहबकी आर्थिक परिस्थितिके विषयमें मुझे उस समय कुछ भी पता न था । मैंने इस बातपर अपने एक पत्रमें धृष्टतापूर्वक बतौर इशारेके कुछ ऐतराज़ किया । इस पर मीर साहबने अपने २९-८-३४ के पत्रमें लिखा था––"पिछले पत्रमें आपने पुरस्कार प्रतियोगितामें भाग लेनेके कारण मेरे सम्बन्धमें पश्चाताप प्रकट किया है । इसका अहसास मुझे था । मैं लेख 'मातृभाषाकी महत्ता' लिखते तो लिख गया और साहस करके भेज भी दिया । लेकिन अन्त तक यह भय सताता रहा कि निर्णायक कमेटीके सदस्योंमेंसे यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो, जो मुझे स्नेहकी दृष्टिसे देखता हो, कहीं ऐसा न हो कि मेरा लेख मुझे उसकी नज़रोंसे गिराये, और यह भी सही है कि लोभने ही मुझसे वह लेख लिखाया था । आप विश्वास कीजिए कि स्टेट सर्विस––वह भी पुलिसकी–रहने पर भी मेरे पास कभी सौ रुपये जमा नहीं हुए । वर्तमान द्विवेदी पुरस्कारने इतना तो किया कि मुझे 'शतपति' बना दिया । वे रुपये मकान बनानेके लिए ज़मीन लेनेकी इच्छासे बैंकमें पानेके दिन ही जमा करा दिये हैं । इस समय मैं ख़ानाबदोश हूँ ।"

इस पत्रको पढ़कर बड़ा खेद हुआ और अपनी धृष्टतापर बड़ी लज्जा आई । मीर साहबको मेरी बात याद रही और उन्होंने फिर मुझे लिखा था:––

"प्रतियोगिता सम्बन्धी लेखमें भाग लेकर सचमुच मैंने अच्छा न किया था, परन्तु वास्तविक बात प्रलोभनके सिवा और कुछ न थी । आपको आश्चर्य होगा कि मेरे पास कभी १००) जमा नहीं हुए । इसीलिए मैंने उन्हें उसी दिन बैंकमें जमा करा दिया है । अब आप मुझे 'लखपति' 'करोड़पति' आदिके समान (कुछ दिनके लिए) शतपति कह सकेंगे ।"

इस प्रकार बूढ़े हिन्दू तपस्वी महावीरप्रसादजी द्विवेदीकी कठिन कमाईके सौ रुपयेसे दूसरा बूढ़ा मुसलमान तपस्वी शतपति बना। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें यह घटना चिरकाल तक जीवित रहकर निर्धन साहित्य सेवियोंको गर्वोन्नत और पूँजीपति हिन्दी भाषा भाषियोंको लज्जित करती रहेगी।

मेरा पछतावा

फरवरी १९३५ में मीर साहबका पत्र मिला:—

"आप वर्धा तशरीफ लेजाना चाहते हैं, इसलिए आपने जानना चाहा है कि क्या मार्ग उधर ही होकर है। श्रीमान्! हाँ। इधर ही होकर है! बिलकुल इधर ही होकर!! शीघ्र सूचना देनेकी कृपा करें कि आप किस तारीखकी मेलसे रवाना होंगे।"

उस समय मैं वर्धा नहीं जा सका, पर मेरा पत्र समयपर न मिलनेके कारण मीर साहब स्टेशन तक हैरान भी हुए। और जब अक्टूबर १९३५ में वर्धा गया भी तो भाटापारे उतर नहीं सका, सोचा था कि लौटते समय उतरूँगा और मीर साहबसे हाथ जोड़कर कहूँगा "क्षमा कीजिए मुझे आपकी हालत का पता नहीं था, नहीं तो आपके सौ रुपये पुरस्कारके लिए प्रतियोगिता करनेपर कदापि आक्षेप न करता।" पर यह क्षमाप्राप्ति मेरे भाग्यमें बदी न थी। गत २१ ता० की शामको डाक खोली तो विलासपुरके श्रीयुत प्यारेलालजी गुप्तका पत्र मिला, "आपको यह जानकर शोक होगा कि श्रद्धेय मीर साहबकी मृत्यु रेलवे दुर्घटना द्वारा होगई है।" इस ज़िन्दगीमें एकाध 'करोड़पति' तथा अनेकों 'लखपतियों' से मिला हूँ और इस अभागे जीवनमें अभी न जाने कितनोंसे मिलना पड़ेगा, पर 'ख़ानाबदोश' 'शतपति' मीर साहेबके दर्शन न कर सका—न कर सका।

श्री किशोरीलालजी गोस्वामी

स्वर्गीय गोस्वामीजीके दर्शन करनेका सौभाग्य मुझे तीन बार प्राप्त हुआ था, पहली बार तो सन् १९१७ में हिन्दी साहित्य सम्मेलनके इन्दौर-वाले अधिवेशनके पूर्व, दूसरी बार वृन्दावनके सम्मेलनपर और तीसरी बार काशीमें आजसे चार पाँच वर्ष पूर्व। इन तीन अवसरों पर मैंने उन्हें भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें देखा। इन्दौर सम्मेलनमें साहित्य-विभागके मंत्रीकी हैसियतसे मैं लेख माँगनेके लिए उनकी सेवामें वृन्दावन पहुँचा था। ऊपर-के विस्तृत कमरेमें बैठे हुए थे। चारों ओर किताबोंके ढेर लगे हुए थे। कहीं कुछ छपे छपाये फार्म रखे हुए थे, कहीं वी०पी० पार्सल डाकखाने जानेके लिए तैयार थे, प्रेससे प्रूफ देखनेके लिए आ रहे थे और गोस्वामीजी-के सुपुत्र छबीलेलालजीकी कहानियोंकी किताब छप रही थी, गरज़ यह कि काम बड़े ज़ोरोंके साथ चल रहा था। उस समय तक श्री छबीले-लालजीके सिरपर हुव्वलवतनीका जिन सवार नहीं हुआ था और वे शुद्ध साहित्यिक जीव थे। गोस्वामीजी उस समय साधन सम्पन्न थे, और उनकी बातचीतमें उत्साह था। अपने पिछले ३० वर्षके अनुभवकी उन्होंने कितनी ही बातें सुनाईं। ग्रियर्सन साहबसे उनका जो पत्र व्यवहार तथा परिचय हुआ था, उसका ज़िक्र किया और अपनी एक छोटी-सी पुस्तक उस समयकी छपी हुई दिखलाई, जब हमारा जन्म भी नहीं हुआ था! गोस्वामी-जीकी किसी पुस्तकका अनुवाद मराठीमें हुआ था, उसका भी उन्होंने ज़िक्र किया। उन दिनों भी गोस्वामीजीको इस बातकी कुछ शिकायत थी कि हिन्दी संस्थाएँ उनके साथ यथोचित व्यवहार नहीं करतीं। साहि-त्यिक प्रदर्शनियोंपर वे बराबर अपनी किताबें भेजा करते थे, पर वे कहींसे वापस नहीं आती थीं! अपने साहित्यिकोंका सम्मान करना तो हिन्दी-वाले जानते ही नहीं, इस बातका भी गोस्वामीजीने प्रसंगवश ज़िक्र किया

था। गोस्वामीजीके यहाँसे मैं प्रभावित होकर लौटा। हृदयमें इच्छा हुई कि यदि मैं भी इसी तरहका लेखक होता तो कैसा अच्छा होता!

वृन्दावन सम्मेलनके अवसरपर गोस्वामीजी काशीसे पधारे थे। कविसम्मेलनमें उन्होंने बड़े उत्साहसे भाग लिया था, और उनके पुत्र श्री छबीलेलालजीने इधर-उधर घूम-घूमकर सम्मेलनकी सफलताके लिए प्रयत्न किया था। गोस्वामीजीमें पुराने उत्साहकी झलक बाक़ी थी, यद्यपि छबीलेलालजीकी लीडरी उन्हें बहुत महँगी पड़ी थी। श्री बालकृष्ण शर्मा नवीनने प्रतापमें एक बार मज़ेदार रसिया छपवाया था। जिसका प्रारम्भ इस प्रकार होता था:—

"हुव्वलवतनीको मरोरा छोरा ले डारैगो तोहि
हुव्वलवतनी को मरोरा।"

श्री छबीलेलालजीने अपने पिताजीके प्रकाशन कार्यको नितान्त उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा था। आवश्यकता इस बातकी थी कि प्रेसकी उन्नति करके उनके ग्रन्थ नये आकार प्रकारसे छपाये जाते, और उनकी बिक्रीका उचित प्रबन्ध होता, पर छबीलेलालजी व्याख्यानबाज़ीमें लगे हुए थे। परिणाम यह हुआ कि बाज़ारमें छबीलेलालजीका मोल बढ़ गया, लेकिन उनके पिताजीकी पुस्तकोंका मोल घट गया! इधर जनताकी रुचिमें भी परिवर्तन हो रहा था। इन सब परिस्थितियोंने मिलकर श्री गोस्वामी-जीकी आर्थिक स्थितिपर जबरदस्त प्रभाव डाला था, फिर भी उन्होंने गम्भीरता पूर्वक सब कुछ सहन किया था, और उनकी ज़िन्दादिलीमें किसी तरहका अन्तर नहीं पड़ा था।

काशीमें पिछली बार जब मैंने उनके दर्शन किये, उस समय उनमें स्फूर्ति बहुत कम रह गई थी। बढ़ती हुई उम्रका तकाज़ा था, गार्हस्थिक परेशानियाँ थीं, साथ ही यह पछतावा भी था कि छबीलेलालजीने साहित्य सेवासे सदाके लिए मुँह मोड़ लिया था। बड़े खेद-पूर्वक उन्होंने कहा भी, "छबीलेलाल अच्छी कहानियाँ लिखने लग गया था, आजकलके अनेक

गल्पलेखकोंसे पहले उसने लिखना शुरू किया था, पर उसने राजनैतिक झंझटोंमें पड़कर सारा साहित्यिक काम चौपट कर दिया।"

इस समय गोस्वामीजीकी बातोंसे यह खेदजनक ध्वनि और भी स्पष्टतया निकलती थी कि हिन्दी जनताने उनका यथोचित सम्मान नहीं किया। उनसे जूनियर आदमी सम्मानित हो चुके थे, और उनका किसीने नाम भी नहीं लिया था! पर गोस्वामीजी मौजी आदमी थे, शिकायतके निरुत्साहप्रद वायुमंडलमें अधिक देर साँस लेना उन्हें नापसन्द था, और उनकी ज़िन्दादिलीकी पुरानी स्पिरिट अब भी बाक़ी थी। उन्होंने शृंगार रसकी कई कविताएँ सुनाईं, जिनमें एकका नाम था 'बारेकी नारि' या 'बालककी बनिता'। कविताका प्रारम्भ इस प्रकार होता था।

"निज बालम बारे निहारि अली
मन मेरो हमेस पियासो रहे।"

चारों चरणोंके अन्तमें पिया सो रहे भिन्न-भिन्न अर्थोंमें आया था। शृंगार रसके बाद आपने अपनी लिखी उर्दूकी कुछ गज़लें सुनाईं।

हो जवाँमर्द न डर करके छिपो अन्दर यों,
बढ़के दो हाथ चला डालो न ख़ंजर बाहर।
जो जवाँमर्द हैं मरनेसे नहीं डरते वह,
आबरू रखते हैं दुश्मनसे निबटकर बाहर।
जिनको जोरूके न लहँगेमें जगह मिलती थी,
वह भी मुरदार, बने आज हैं लीडर बाहर।
देखते घरमें तमाशा हैं लड़ानेवाले,
लड़ रहे शौक़से हैं ख़ास बिरादर बाहर।
हिन्दकी आबरू तुमसे न रहेगी यारो,
घरमें बैठे हुए फेंका करो पत्थर बाहर।

तत्पश्चात् अपना पद सुनाया--

श्री हरि अपनी ओर निहारहु ।
कामी कुटिल पातकी दुर्जन जानि न मोहि विसारहु
कोटि कोटि खल जैसे तारे तैसेहि मोहि उबारहु
रसिक किसोरी सरनागत लखि अब करुणाकरि तारहु ।

इसके बाद गोस्वामी जी अपनी एक पुरानी नोट-बुक ले आये, और उसमेंसे कितने ही मनोरंजक कवित्त और क़िस्से सुनाने लगे । उन्होंने बतलाया कि एक बार हिन्दी और उर्दूके विषयमें स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्री बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, श्री राधाचरण गोस्वामी, श्री प्रतापनारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्टने एक-एक पद्य कहा था । पद्य मुझे पसन्द आये, और मैंने उसी वक्त उन्हें अपनी नोट बुकमें दर्ज कर लिया । आप भी सुन लीजिये ।

बभूवतुस्ते व्रजभूमि द्वे सुते
स्वजन्मबीजेन विभिन्नमार्गे
तयोस्तु हिन्दीकुलकामिनी वरा
कनिष्ठिकोर्दू कथिता विलासिनी ।

--स्वामी दयानन्द

सब गुन ले हिन्दी भई ब्रजभाषाके कोष
तापर जो उरदू भई, सो गुन रहित सदोष ।

--भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

हुई सैकड़ों व्रजभाषा की यद्यपि बिटिया ललित ललाम
पर उन सबमें हिन्दी और उर्दूने ही पाया नाम ।

--बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन'

द्वेसुते ब्रजभाषाया हिन्दी चोर्दूबभूवतुः
आद्या वरांगना चान्त्या ख्याता वारांगना भुवि ।

--राधाचरण गोस्वामी

है बड़ी हिन्दी व उर्दू उसकी छोटी बहन है
आई ब्रजभाषासे दोनों यह बड़ोंकी कहन है ।

—प्रतापनारायण मिश्र

दुइ बिटियाँ ब्रजभाषाकी हैं हिन्दी उर्दू सुन्दर नार
जेठी महलनमें है पैठी लौहरी बैठी जाइ बजार ।

—बालकृष्ण भट्ट

कई घण्टे तक गोस्वामीजीके सत्संगका सौभाग्य प्राप्त हुआ । मनमें इच्छा भी हुई कि कई दिन तक उनकी सेवामें बिताकर पुरानी बातोंके नोट ले लूँ, पर अपनी दीर्घसूत्रतावश वैसा न कर सका । इस अवसरपर मुझे यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि गोस्वामीजीके काशीवाले घरसे मैं उस प्रकारके उत्साहके भाव लेकर नहीं लौटा, जिस प्रकारके भाव सन् १९१७ में उनके वृन्दावनवाले कार्यालयसे लेकर लौटा था। इसके कई कारण हो सकते हैं। सम्भवतः मेरी मनोवृत्तिमें ही परिवर्तन हो गया था, अथवा संकटग्रस्त होनेके कारण उनके व्यक्तित्वमें हीं प्रभावोत्पादक शक्तिकी कमी हो गई हो । व्यक्तित्वको निरन्तर प्रभावोत्पादक बनाये रखनेके लिए तप और त्याग, निश्चित अवकाश तथा आर्थिक सुविधाकी नितान्त आवश्यकता होती है और सम्भवतः विकट परिस्थितियोंने गोस्वामीजीके लिए उतना अवसर ही न छोड़ा था कि वे अपने व्यक्तित्वको विशेष आकर्षक बनाये रखते । आर्थिक संकट व्यक्तित्वका कितना बड़ा विघातक है, इसका अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं । पर किसी भी हालतमें वे उस उपेक्षाके योग्य न थे, जो उनकी ओर प्रदर्शित की गई थी । मरनेके कुछ घंटे पहले उन्होंने श्री छबीलेलालजीसे कहा था—

"तुम्हें इस बात पर आश्चर्य और दुःख है कि मेरी बीमारीमें काशीका कोई भी हिन्दी-साहित्यसेवी देखने-सुनने नहीं आया; पर मैं इसे ईश्वरका अनुग्रह समझता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे अन्त समय तक कोई भी आनेकी कृपा न करें । निर्वात् निष्कम्पभिव प्रदीपम्के समान मैंने आजीवन आँधी

तूफानोंको देखा। जो कुछ कहा-सुना गया, उसे शान्तिसे सहन किया, और अब अन्तिम समय भी उस शान्तिमें विघ्न न हो, यही चाहता हूँ। जगदीश्वर यहाँके साहित्य सेवियोंकी मति ठीक रखे, और वे मुझपर अनुग्रह प्रकाश करनेकी उदारता न करें।"

'आज' में बीमारीकी सूचना छपनेपर मुझे आशा थी कि कुछ लोग अवश्य आयेंगे", छवीलेलालजीने कहा।

"तुमने न कभी संसारको पहचाना और न पहचान ही सकोगे। इस चर्चाको बन्द करो। इस समय केवल गीताके कृष्णकी चर्चा करो।" गोस्वामीजीने कहा।

गोस्वामीजीने अपने समयमें मातृभाषाके लिए जो कार्य किया था, वह वास्तवमें महत्वपूर्ण था, और यद्यपि समयकी गति उन्हें पीछे छोड़ गई थी, तथापि वे अपने ढंगके निराले आदमी थे, और उनकी सेवाओंको भूल जाना घोर कृतघ्नताकी बात होगी।

श्री कृष्णबलदेव वर्मा

"आप मुझे शायद न जानते होंगे, मेरा नाम कृष्णबलदेव है।" एक वयोवृद्ध सज्जनने 'विशालभारत' कार्यालयमें पधारकर अपना परिचय इस प्रकार दिया। बात तेरह वर्ष पहलेकी है, पर वर्माजीकी वह मुखमुद्रा, जिससे अकृत्रिम स्नेह और विनम्रता टपकती थी, मुझे ज्यों-की-त्यों याद है।

मैंने उत्तर दिया, "सरस्वतीके किसी पुराने अङ्कमें--२०-२५ वर्ष पहलेका कोई अङ्क था--आपका चित्र मैंने देखा था।"

"हाँ, ठीक बात है, वही हूँ।"--

इतना कहकर वर्माजी विराज गये और 'विशालभारत'के प्रूफ़ देखना शुरू कर दिया! मैं हैरान था कि ये अजीब आदमी हैं! वर्माजीने उन त्रुटियोंका संशोधन किया, जो मुझसे छूट गई थीं, और कई घंटे काम करके चलते वक्त कहा--

"आप किसी तरहका संकोच न कीजिए। कलकत्ता आपके लिए नई जगह है और मैं यहाँ वर्षोंसे रहता हूँ। किसी तरहका कष्ट हो तो मुझसे कहिये।"

फिर तो वर्माजीसे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया कि उनकी प्रेमपूर्ण डाँट अक्सर सुननेको मिलती थी। कभी किसीसे मिलाने ले जाते तो कभी किसीसे। ख़ास तौरपर मेरी वस्त्रसम्बन्धी 'अव्यवस्थासे' वे सख़्त नाराज़ रहते थे। जब वे कहते "चौबेजी तुम बड़े सिल्लकबिल्ले हो, ज़रा सलीक़ा तो सीखो।" मैं हँस देता था।

वर्माजीको एक धुन थी (उस समय मैं उसे ख़ब्त समझता था) यानी वे हर वक्त बुन्देलखण्ड तथा 'केशव'की रट लगाये रहते थे। केशवकी

पचासों रचनाएँ उन्हें कण्ठस्थ थीं और उनकी स्मरण-शक्ति देखकर दंग रह जाना पड़ता था।

जब वर्माजी बुन्देलखण्डकी प्रशंसा करने लगते तो फिर उनकी ज़बान थकती न थी। ऐसा प्रतीत होता था कि बेतवा नदीमें बाढ़ आ गई है। यदि उनका वश चलता तो वे 'विशालभारत'को बुन्देलखण्ड प्रान्तका मुखपत्र ही बना डालते। जब देखिए तब बुन्देलखण्ड प्रान्तके विषयमें कोई न कोई लेख या चित्र लिये मौजूद है! उनके आग्रहपर बुन्देलखण्ड विषयक कितने ही लेख मैंने 'विशालभारत'में प्रकाशित भी किये, पर उनको तृप्त करना असम्भव था।

अपनी मृत्युके तीन महीने पहले उन्होंने श्रीयुत गौरीशङ्करजी द्विवेदीको लिखा था :—

"पूज्यवर,

प्रणाम। आपको यह जानकर दुःख होगा कि मैं ता० २३को इलाहाबाद गया। वहाँसे ओरियंटल कान्फ्रेंस अटेण्ड करने पाटलीपुत्र गया। वहाँसे बौद्धकालीन यूनिवर्सिटी नालन्दा, राजगिरि, वैशाली, सहस्राम आदि देखनेको था कि पाटलिपुत्रमें सख़्त बीमार पड़ गया, और यहाँ काशी अपने भानजे डाक्टर अचलबिहारी सेठ एम्० बी०; बी० एस्-सी० (मेडिकल आफ़िसर सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल बनारस)के पास लौट आया। परसों सबेरे मेरे रोगने भयानक रूप धारण किया। हार्ट सिंक होने लगा नाटिका बैठ चली। विश्वनाथजीसे आप सब मित्रोंकी मंगलकामना करते हुए अटलनिद्रा लेनेको ही था कि डाक्टरके इन्जेक्शन और मकरध्वजके डोज़ोंने हार्ट एण्ड नाटिकाको सँभाल लिया। अब मैं इम्प्रूव कर रहा हूँ। और अभी जबतक बिलकुल ठीक नहीं हो जाऊँगा, तबतक आठ-दस दिन यहाँ रहूँगा। यदि कैलाश-लाभ कर लूँगा तो मेरी शुभकामनाओंको सदैव अपने साथ समझियेगा और सदैव मातृभाषाकी सेवामें रत रहियेगा। बुन्देलखण्डके गौरवका ध्यान रहे। सोते-जागते जो कुछ लिखिए-पढ़िए

वह मातृ-भूमिके गौरवके सम्बन्धमें ही हो। शोक, मैं इस बीमारीके कारण शैयासीन होनेसे सुधाके 'ओरछांक'को अभी कुछ नहीं लिख सका हूँ। एक पुराना लेख 'बुन्देलखण्डका चित्तौर ओरछा दुर्ग' था वह सरस्वती-को दे दिया था। १ तारीख़ तक आपके पास उसकी प्रति पहुँचेगी तथा एक प्रति महाराज साहबकी सेवामें, एक दीवान साहबकी सेवामें पहुँचेगी। उसे आप अवश्य देखिएगा। लेख सचित्र है, उसमें ओरछाका गौरव है। चित्तौराधिपति प्रतापपर, वीर-शिरोमणि वीर-सिंहदेवका ऐतिहासिक प्रमाणोंके साथ प्राधान्य है। चित्तौरसे ओरछा गौरवशाली है, यह भाव है। यदि आठ दिन और जीवित रहा तो सुधाके अङ्कके लिए लेख पहुँचेगा।"

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि मातृ-भूमिसे उनका अभिप्राय बुन्देलखण्डसे ही था। मैं उन दिनों उनकी इस भक्तिको 'अन्ध श्रद्धा' तथा 'प्रान्तीयता' ही समझता था और साथ-ही-साथ मेरा यह भी ख़याल था कि वर्माजी अपने प्रान्तकी जो प्रशंसा करते हैं, उसमें बहुत कुछ अत्युक्ति है। अब इस भूमिमें तीन वर्ष रहनेके बाद मुझे अपनी यह भ्रमात्मक धारणा दूर कर देनी पड़ी है। यहाँ आकर मैं अपने प्रान्त यानी ब्रजमंडल-का प्रेमी बन गया हूँ और मेरे मनमें यह आकांक्षा उत्पन्न हो गई है कि मैं भी आगे चलकर अपने ब्रजमंडलके प्रति वैसी ही भक्ति हृदयमें धारण कर सकूँ, जैसी स्वर्गीय वर्माजीमें बुन्देलखण्डके प्रति थी।

अपने ८।३।२९के पत्रमें उन्होंने बन्धुवर गौरीशंकरजी द्विवेदीको लिखा था :—

"मैं बुन्देलखण्डके इतिहास तथा प्रख्यातिके लिए, जो कुछ सम्भव है, कर रहा हूँ। मुझे बुन्देलखण्डसे प्रीति और भक्ति है। **मैं मरकर फिर वहीं जन्म लेना चाहता हूँ।** वह पावन-क्षेत्र है, वह वीर-भूमि है, उसका इतिहास समुज्ज्वल है। आपने देख लिया होगा कि बुन्देलखण्डका जहाँ कोई नाम भी न जानता था वहाँ उसकी अब कितनी ख्याति है। यहाँ

कलकत्तेमें विशालभारत लेक्चर सीरीज़ मैजिक लेंटर्न द्वारा प्रदर्शित करनेका जो प्रबन्ध हुआ है, उसमें दो लेक्चर्स बुन्देलखण्डके इतिहास, मन्दिर व मूर्ति-निर्माण, कला-साहित्य व वीरचरित्रपर भी मेरे हैं। अब मेरा आपका और सबका कर्तव्य है कि बुन्देलखण्डके इस गौरवको जीवित रक्खें और ख्यातिको बढ़ावें।"

जहाँ-कहीं वे जाते, अपने प्रान्तकी चर्चा किये बिना न रहते। हिन्दुस्तानी एकेडेमीसे उन्होंने यह तय करा लिया था कि वे स्वयं कवीन्द्र केशवदासके ग्रन्थोंका सम्पादन करेंगे। इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत डाक्टर कालिदास नागको उन्होंने इस बातके लिए राज़ी कर लिया था कि वे इस प्रान्तका दौरा उनके साथ करेंगे और परिषदों, कान्फ्रेंसों तथा सम्मेलनोंमें उनके जानेका मुख्य उद्देश्य यही होता था कि वे अन्वेषकों तथा विद्वानोंका ध्यान इस प्रान्तकी ओर आकर्षित करें।

किसीसे वे हरदौलके गीत मँगाते थे तो किसीसे सारंगाका गीत। दिनरात उन्हें इसी प्रान्तकी फ़िक्र थी और उनके पत्रोंमें बस यहींकी चर्चा रहती थी।

"राज्ज लाइब्रेरीमें पता लगाइए कि कवीन्द्र केशवदासजीके किन-किन ग्रन्थोंकी हस्तलिपि वहाँ मौजूद हैं।"

"झाँसीके श्री श्रवणप्रसादजीको लिखिए कि वे गीत इत्यादिका संग्रह करावें।"

"गुरुजी पं० बालकृष्णदेवजीसे पूछिए कि क्या केशवके ग्रन्थोंकी कोई प्रति उनके पास भी है?"

"किसीके यहाँ जहाँगीर–चन्द्रिका मिलेगी?"

"अकबरके दर्पदमनकारी महाराज वीरसिंहदेवका चित्र तलाश कराइए!"

एक चिट्ठीमें उन्होंने द्विवेदीजीको लिखा था :—"आप तथा रसिकेन्द्रजी परस्पर परामर्श करके मुझे यह लिखिएगा कि बुन्देलखण्डके

किन-किन स्थानोंके चित्र संग्रह किये जावें। मैंने 'विशालभारत'से यह तय कर लिया है कि प्रति लेख १० चित्र वह छाप देंगे और अपनी ओरसे ब्लाक बनवा लेंगे ! मैं समझता हूँ कि बुन्देलखण्डके इतिहासके छपने और सचित्र छपनेका एक प्रकारसे मैंने पूरा प्रबन्ध कर लिया है। अब रहा लेख प्रस्तुत करने और उसके सम्बन्धमें खोज करनेका काम, वह हम लोगोंके ऊपर निर्भर है। यदि इस समय हम आप सब सपरिश्रम लेखमाला प्रस्तुत करनेमें लग जावेंगे तो अब आप विश्वास कर लीजिए कि जिस कामको कठिन साध्य ही नहीं असम्भव समझते थे, वह सुलभ हो गया। अब चित्रोंवाली कठिनाई न रही। प्रकाशनके लिए भी साधन प्रस्तुत हैं।"

'विशाल भारत'में मैंने वर्माजीके आदेशानुसार बुन्देलखण्ड विषयक अनेक चित्र तथा लेख छापे थे। उन्हींकी आज्ञानुसार महारानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब तथा छत्रसालके रंगीन चित्र 'विशालभारत'में प्रकाशित हुए थे। कवीन्द्र केशवदासका तिरंगा चित्र भी वे 'विशालभारत'के लिए तलाश कर रहे थे।

स्वर्गीय वर्माजीके सत्संगका सौभाग्य मुझे केवल दो वर्षतक प्राप्त हुआ। एक दिन उन्होंने एक क्षीणकाय व्यक्तिको मुझसे मिलाया और कहा, "चौबेजी, मैं तो अब वृद्ध हो गया, हृद्रोगसे पीड़ित रहता हूँ, न जाने कब चल दूँ, आपको एक साहित्यसेवी सौंपता हूँ, आप इससे काम लीजिए।"

मैंने कहा, "ये कौन हैं ? इनका शुभ परिचय ?" वर्माजीने कहा, "यह मेरा साहित्यिक उत्तराधिकारी है—वैसे भतीजा है। नाम है ब्रजमोहन।"

स्वर्गीय बन्धुवर ब्रजमोहन वर्माने 'विशालभारत'के लिए जो महान् कार्य किया और जिस प्रकार वे उसके प्राणस्वरूप बन गये उसकी चर्चा तो फिर कभी की जायगी; इस समय इतना ही कहना पर्य्याप्त होगा कि आगे चलकर स्वर्गीय कृष्णबलदेवजी वर्माकी ख्याति जितनी बुन्देलखण्ड-

प्रेमी होनेके कारण होगी उससे अधिक होगी स्वर्गीय ब्रजमोहन वर्माके पूज्य चाचा होनेके कारण।

यद्यपि स्वर्गीय कृष्णबलदेव वर्माजी अपने जनपद बुन्देलखण्डके अनन्य भक्त थे, पर उनमें क्षुद्र प्रान्तीयताका सर्वथा अभाव था और उनकी साहित्यिक रुचि पूर्णतया उदार थी।

जब उनसे 'सुधा'के ओरछा-अङ्कके लिए लेख माँगा गया तो उन्होंने लिखा था :—

"यह जानकर मुझे और भी आनन्द हुआ है कि 'सुधा' ओरछा-अङ्क प्रकाशित करेगी। मैं उसमें सहयोग देनेके लिए पूर्णतया प्रस्तुत हूँ। साहित्यके देवस्वरूप श्री केशवदासजी मेरे हृदयाराध्य उपास्यदेव हैं। फिर यह कहाँ सम्भव है कि जहाँ उनका अथवा ओरछा राज्यका गुणगान होनेको हो, वहाँ मैं कुछ भी त्रुटि करूँ? पर कहना इतना ही है कि एक सप्ताहका समय जो लेखके लिए आप मुझे देते हैं वह बहुत ही अपर्याप्त है। कारण यह है इस समय मैं बहुत व्यग्र हूँ, यह सप्ताह क्या दो सप्ताह तक मैं ऐसा फँसा हूँ कि दम मारनेका अवकाश नहीं, क्योंकि ता० २१ नवम्बरको मैं प्रयाग जा रहा हूँ। एकेडेमीकी ओरसे पत्रिका पहली जनवरीको प्रकाशित होनेवाली है। उसके ऐडिटोरियल बोर्डकी मीटिंग २३ नवम्बरको है। पत्रिकाके ऐडिटोरियल बोर्डका मैं आनरेरी मेम्बर हूँ। पत्रिकाके लिए एक बहुत विस्तृत लेख भारतवर्षके अन्तिम सम्राट् महाराज समुद्रगुप्तपर लिखा है। समुद्रगुप्तके सम्बन्धमें खोज करने और स्टडी करनेमें मुझे दो मास लग गये। प्रयाग, कौशाम्वी, दिल्ली, एरण, गया आदिके स्तम्भोंपरके लेखोंको पढ़ना पड़ा, कनिंघमकी आर्के-लाजिकल सर्वे रिपोर्टकी स्टडीज़ करनी पड़ीं। गुप्तकालीन मुद्राओं व मूर्तियोंको खोजकर उनसे ऐतिहासिक रहस्य उद्घाटन करने पड़े। अब वह लेख पूर्ण करके भेजा है। वीर-विलासकी भूमिका कल तक लिखकर तैयार हो जावेगी। उसे भी प्रकाशनार्थ भेज रहा हूँ। दूसरे

२५ दिसम्बरको काशीमें ऑल एशियाटिक एज्यूकेशन कान्फ्रेंस होनेवाली है, उसका भी मैं मेम्बर हूँ, उसके लिए भी लेख प्रस्तुत करना है, जो भारत-वर्षकी प्राचीन युनिवर्सिटियों और शिक्षा-पद्धतिपर होगा, साथ ही २६ ता०को काशी नागरी प्रचारणी सभाके साहित्य-परिषद्का अधिवेशन है, जिसके लिए सभापति श्रीयुत राव बहादुर माधवराव किबे हैं। उस परिषद्के बन्धुवर बाबू श्यामसुन्दरदासजी रायसाहबने बुन्देलखण्डके साहित्यपर एक लेख पढ़नेकी आज्ञा की है, जिसकी मैं स्वीकृति दे चुका हूँ, और जिसे तैयार करनेका आज लग्गा लगाऊँगा। साथ ही पटनेमें ओरियंटिल कान्फ्रेंस है उसमें भी जाना पड़ेगा और उसके लिए भी कुछ मसाला इकट्ठा करना होगा। अतः आप बाबू दुलारेलालजीसे यह कहिए कि वे कृपाकर ओरछाङ्कके पन्द्रह-बीस पृष्ठकी जगह मेरे लेखके लिए रिज़र्व रक्खें।"

इस पत्रसे स्पष्टतया प्रकट है कि श्रद्धेय वर्माजीकी साहित्यिक रुचिमें सङ्कीर्णता बिल्कुल नहीं थी। जिस प्रेमके साथ वे कलकत्तेमें होनेवाले अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनका मन्त्रित्व कर सकते थे, उसी प्रेमके साथ अपने बुन्देलखण्ड प्रान्तके किसी गाँवकी ख़ाक भी छान सकते थे। स्वप्रान्त-प्रेम तथा स्वदेश-प्रेम कोई परस्पर विरोधी भावनाएँ नहीं हैं।

हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि ज्यों-ज्यों हमारी मातृभूमिमें साहित्यिक तथा सांस्कृतिक जाग्रति होती जायगी त्यों-त्यों हम स्थानीय केन्द्रोंको अधिकाधिक महत्त्व देते जायँगे। यदि हममेंसे प्रत्येक अपने जनपद अथवा मंडलकी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रगतिके लिए कटिबद्ध हो जाय तो समस्त भारतकी सर्वाङ्गीन उन्नति होनेमें देर न लगे। यद्यपि हमें अपने देशका सम्पूर्ण रूप अपने सामने रखना चाहिए (वहाँपर भी हमें क्षुद्र राष्ट्रियताके ख़तरेसे अपनेको बचाना होगा) तथापि हमारा कल्याण इसीमें है कि हम अपनी परिमित शक्तियोंका ख़याल करके

अपेक्षाकृत एक छोटेसे स्थल या जनपदको अपना कार्यक्षेत्र बना लें। कार्यकी सुविधाके लिए क्षेत्रोंके विभाजनके मानी 'प्रान्तीयता' हर्गिज़ नहीं।)

स्वर्गीय कृष्णबलदेव वर्माके जीवनमें सबसे अधिक आकर्षक बात यही थी कि बुन्देलखण्डको उन्होंने अपने हृदयमें सर्वोच्च स्थान पर रक्खा था। यद्यपि गार्हस्थिक दुर्घटनाओं, शारीरिक कष्टों और राजनैतिक झंझटोंके कारण वे अपने प्रान्तकी यथोचित सेवा न कर सके तथापि जो कुछ भी उन्होंने किया तदर्थ हम सबको उनका कृतज्ञ होना चाहिए। वह समय दूर नहीं है जब कि बुन्देलखण्ड प्रान्तकी जनता स्वर्गीय कृष्णबलदेव वर्माके इस अनन्य प्रेमसे भलीभाँति परिचित हो जायँगी और जिस कामको वे अधूरा छोड़ गये उसे पूर्ण करेगी। उनकी आत्माको सन्तोष तभी होगा जब बुन्देलखण्ड-प्रान्त सांस्कृतिक दृष्टिसे अपने प्राचीन गौरवको पुनः प्राप्त कर ले।

नवम्बर १९४०]

पण्डित तोताराम सनाढ्य

१५ जून १९१४

"ये हैं पं० तोतारामजी सनाढ्य, जो फ़िजीसे अभी लौटे हैं।"

भारती-भवन (फीरोज़ाबाद) के मैनेजर लाला चिरंजीलालजीने मुझसे कहा। मैंने पंडितजीको प्रणाम किया और कहा "आपके व्याख्यान मैंने भारतमित्रमें पढ़े हैं। कुलीप्रथाके विरुद्ध आप खूब बोले।"

तोतारामजीने कहा—"पंडित अम्बिकाप्रसादजी बाजपेयीकी कृपासे वह सब वृत्तान्त छप गया।"

मैंने निवेदन किया—"पंडितजी, अब अपने अनुभवोंको पुस्तकाकारमें क्यों नहीं छपा देते?"

पंडितजी—"मैं कोई लेखक थोड़े ही हूँ। हाँ, अपने अनुभव सुना ज़रूर सकता हूँ। कोई उन्हें लिख सके तो काम बने।"

मैं—"इसकी चिन्ता आप न करें। क्लर्कीका काम मेरे ज़िम्मे रहा।'

इस प्रकार 'फ़िजी द्वीपमें मेरे २१ वर्ष' नामक पुस्तकका प्रारम्भ हुआ, जिसके तीन संस्करण हिन्दीमें छपे, जिसके चार भिन्न-भिन्न गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुए, मराठीमें जिसका तर्जुमा छपा, बंगलामें दो बार जो अनुवादित हुई और जिसका अंग्रेज़ी ट्रांसलेशन कराके दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ फ़िजी ले गये। पुस्तकका निन्यानवे फीसदी श्रेय पंडित तोतारामजी सनाढ्यको ही था। उनका सुनानेका ढंग इतना चित्ताकर्षक था कि उसे ज्यों-का-त्यों लिखना कठिन कार्य था। वैसे उनकी वह गाथा भी इतनी हृदयवेधक थी कि मैंने रोते-रोते ही उसको लिपिबद्ध किया था। शर्तबन्दीकी ग़ुलामी (Indenture System) के विरुद्ध आन्दोलनमें इस पुस्तकसे क़ाफ़ी सहायता मिली थी।

पं० तोतारामजीका जन्म फ़ीरोज़ाबादके निकट हिरनगौमें सन् १८७६ में हुआ था । उनके पूज्य पिताजीका स्वर्गवास सन् १८८७ में हो गया। घरकी हालत इतनी ख़राब हो गई कि उनके बड़े भाई रामलालको कलकत्ते जा कर रैली ब्रदर्सकी आठ रुपये महीनेकी नौकरी करनी पड़ी। सन् १८९३ में तोतारामजी घरसे सात आने पैसे लेकर जीविकाके लिए निकल पड़े और अनेक कठिनाइयोंका सामना करते हुए सोलह दिनमें प्रयाग पहुँचे। प्रयागसे ही उनकी राम-कहानीका प्रारम्भ होता है। किस प्रकार वे आरकाटी (कुली रिक्रूटिंग एजेण्ट) द्वारा बहका कर कलकत्ते भेजे गये और वहाँसे फ़िजी, उसका विवरण पाठक उनकी पुस्तकमें ही पढ़ सकते हैं। प्रवासी भारतीयोंके इतिहासमें यह पुस्तक चिरस्मरणीय रहेगी ।

पंडितजीने अपने जीवनके पाँच वर्ष किस प्रकार गुलामीमें काटे, उसकी कथा अत्यन्त रोमांचकारी है। वास्तवमें यह बड़े सौभाग्यकी बात हुई कि वे उन पाँच वर्षोंमें जीवित रहे; जीवित ही नहीं, जाग्रत भी रहे-- क्योंकि गोरे ओवर-सियरोंके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर अथवा पारस्परिक कलहके कारण कितने ही भारतीय कुली वहाँ आत्मघात कर लेते थे। गुलामीसे मुक्त होने पर पंडितजी १६ वर्षतक फिजीमें और भी रहे।

फिजी प्रवासी भारतीयोंके सार्वजनिक जीवनको संगठित करनेके लिए जितना काम पंडित तोतारामजी सनाढयने किया था, उतना उनके पूर्व किसीने भी वहाँ नहीं किया और उनके लौट आनेके बाद भी उनसे बढ़कर जनसेवा का कार्य शायद ही किसी अन्य फिजी प्रवासी भारतीयसे बन पड़ा हो । भारतवर्षसे हिन्दू धर्म सम्बन्धी ग्रंथ मंगाकर उन्होंने घरपर ही उनका अध्ययन किया और अपनी जीविकाके लिये पंडिताई करने लगे। इस प्रकार उनको जन-सम्पर्क सुलभ हो गया। रामलीलाका प्रारम्भ वहाँ उन्होंने कराया था और महात्मा गांधीजीसे पत्रव्यवहार करके डाक्टर मणिलालजी वैरिस्टरको फिजी बुलानेका श्रेय भी पंडितजीको ही था।

भारतके पत्रोंको भी वे समय-समय पर वहाँके समाचार भेजते रहते थे। शर्तबन्दी गुलामीके खिलाफ़ उन्होंने २३ सितम्बर सन् १९१२ को राजर्षि गोखलेको बाँकीपुर कांग्रेसके अवसर पर तार दिया था। पंडितजी उदार विचारोंके थे और मुसलमानों तथा ईसाइयोंसे भी उनका व्यवहार प्रेमपूर्ण था। 'फिजी आफ टुडे,' के लेखक रैवरेंड बर्टन साहबने उन्हें अपनी पुस्तक में, 'एक सुशिक्षित ब्राह्मण, साफ दिमाग़ वाला और शांतिपूर्वक शास्त्रार्थ करने वाला' लिखा था। फिजीके आदिवासियोंकी भाषाका आपने कई वर्ष तक अध्ययन किया था। और इस प्रकार आप फिजियन जनताके विश्वासपात्र बन गये थे। उन लोगोंको आप प्रह्लाद, ध्रुव, तुलसीदास और कबीरदास आदिकी कथायें सुनाया करते थे। प्रवासी भारतीयोंमें जो कुछ भारतीय संस्कृति विद्यमान है, उसका श्रेय महात्मा गाँधी, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज, भाई परमानन्द, स्वामी भवानीदयाल, अमीचन्द्र विद्यालंकार श्री गोपेन्द्रनारायण तथा दस पन्द्रह अन्य प्रचारकोंको है, जो समय-समय पर वहाँ जाते रहे हैं। पं० तोतारामजीकी गणना भी इन्हीं लोगोंके साथ होनी चाहिए।

आज फिजी प्रवासी भारतीय भले ही पं० तोतारामजीको भूल गये हों, पर इसमें सन्देह नहीं कि उस द्वीप समूहमें भारतीयता, हिन्दीप्रेम तथा देशभक्ति की भावनाको जाग्रत रखनेके लिए पं० तोतारामजीने जो महत्वपूर्ण कार्य किया, वह फिजीके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें लिखा जाना चाहिए। उनकी तीस वर्षकी सेवाके उपलक्ष्यमें इतना तो होना चाहिए कि उनके नाम पर कोई पुस्तकालय फिजीकी राजधानी सूबामें स्थापित हो। शर्तबन्दी गुलामीके विरुद्ध जो भारतव्यापी आन्दोलन उन्होंने किया, उसका ज़िक्र हम आगे चलकर करेंगे।

पंडितजीने एक सरयूपारीण ब्राह्मणकी सुपुत्री गंगादेवीसे अपना विवाह किया और पंडितजीके साथ वे फिजीसे यहाँ लौटकर आई थीं। गंगा बहन भी पंडितजीकी तरह ही सुसंस्कृत और परोपकार भावनासे पूर्ण थीं।

जब गंगा बहनकी मृत्युका समाचार ६-५-३२ को महात्माजीको यरवदा जेलमें मिला तो उन्होंने आश्रमवासियोंको तार दिया था।

"गंगा बहनकी मृत्युका समाचार जान कर हम सबको दुख हुआ। मुझे खुशी है कि उन्होंने अमर श्रद्धाके साथ जीना जाना और मरना जाना। तोतारामजी आनन्दमें हैं, इसमें आश्चर्य नहीं। पंडित तोतारामजी जो कुछ सेवा कर सके, उसका बहुत कुछ श्रेय उनकी सतीसाध्वी पत्नीको मिलना चाहिए।"

३ मई सन् १९१४ को पंडितजी फ़िजीसे लौटकर कलकत्ते पहुँचे और १५ जून १९१४ को फीरोज़ाबादके भारती भवनमें उनके दर्शन करनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। प्रवासी भारतीयोंकी जो अत्यल्प सेवा मुझसे २०-२२ वर्षमें बन पड़ी, उसका मुख्य श्रेय पंडित तोतारामजी सनाढ्य और तत्पश्चात् दीनबन्धु ऐण्ड्रूज और महात्मा गांधीजीको ही है। प्रारम्भिक प्रेरणा मुझे पंडितजीसे ही मिली और सन् १९१४ से लेकर १९२५ तक हम लोगोंने मिलकर ही काम किया था। पंडित तोतारामजीने अपनी कठिन कमाईके सैकड़ों ही रुपये कुली-प्रथाके विरुद्ध आन्दोलनमें व्यय किये थे।

मद्रास कांग्रेसमें आप फ़िजी-प्रवासी भारतीयोंके प्रतिनिधि हो कर सम्मिलित हुए थे। और वहाँ आध घण्टे तक आपने हिन्दीमें कुली-प्रथाके विरुद्ध भाषण दिया था। हरिद्वारके कुम्भ पर अपने ख़र्चसे बारह दिन तक आपने कुली-प्रथाके विरुद्ध ख़ूब प्रचार किया था और पचास सहस्र विज्ञापन आरकाटियोंके विरुद्ध बँटवाये थे।

सन् १९२१ में जब महात्माजीने प्रवासी भारतीयोंका काम करनेके लिए इन पंक्तियोंके लेखकको बुलाया था, तो उस समय पंडित तोताराम-जीको भी सहायतार्थ बुलवा लिया गया था और इस प्रकार हम दोनोंने चार वर्ष तक प्रवासी विभागका कार्य वहाँ किया था। मुझे तो सन् १९२५ में वहाँसे चले आना पड़ा, पर पंडितजीका शेष जीवन वहीं व्यतीत हुआ।

खेतीके कार्यमें पंडितजीको बड़ी रुचि थी। बल्कि वे उसके विशेषज्ञ ही थे। महात्माजीने खेतीके विषयमें जो महत्त्वपूर्ण पत्र २६-४-३३ को पंडित तोतारामजीको लिखा था, उसे यहाँ उद्धृत करनेका मोह हम संवरण नहीं कर सकते। बापूने लिखा था:—

"भाई तोतारामजी,

तुम्हारा विवरण अच्छा लगा। महादेवका भजन भेजा वह भी अच्छा। और दोनोंका मेल भी मुझे बहुत प्रिय लगा। हमारा प्रत्येक कार्य प्रभुका भजन ही होना चाहिए।

विवरण दुबारा पढ़ लूँगा। मेरी आकांक्षा तो यह है कि हम इतने फल और इतनी भाजी पैदा करें जो हमारे लिए पर्याप्त हो। यदि गोमाताके लिए भी घास आदि पैदा करें और आश्रमके लिए अनाज, तो खेतीके पूर्ण आदर्शको हम पहुँचे। इसमें थोड़ा ज़्यादा खर्च भी हुआ तो भी मैं उसको सफल समझूँगा। लेकिन मैं जानता हूँ कि यह सब मूर्खका बकवाद है। खेतीका काम सबसे कम किया और बातें सबसे मैंने इस बारेमें ज़्यादा की हैं। क्या करूँ? खेती उन्हीं चीज़ोंमें से है जो करनेका खयाल मुझको आधी आयु बीतने पर आया।

२६-४-३३ बापू"

पंडित तोतारामजीने यद्यपि किसी विद्यालयमें शिक्षा नहीं पाई थी, अनुभव तथा स्वाध्यायसे उन्होंने अपने मस्तिष्कको खूब विकसित कर लिया था। जो कुछ वे लिखते थे, हृदयके अन्तरतमसे लिखते थे, इसलिए उनके लेखोंमें जान रहती थी। उनके एक पत्रके विषयमें, जो उन्होंने महात्माजीको यरवदा जेलमें भेजा था, श्रीयुत महादेव भाईने लिखा था—

"कल आश्रमकी डाक आई। सदासे ज़्यादा थी। तीन बहुत लम्बे पत्र थे। उनमें तोताराजीका पत्र अमूल्य था। यह कहना मुश्किल है कि रामचरित पढ़कर मन ज़्यादा पवित्र हो सकता है या इस पत्रको पढ़

कर। उसमें उन्होंने अपनी पत्नीका संक्षिप्त वर्णन हृदयंगम भाषामें लिखा था।" इत्यादि।

मेरी प्रार्थना पर पंडितजीने एक दूसरी पुस्तक भी लिखी थी, जिसका नाम था 'फिजीमें मैंने क्या देखा'? दुर्भाग्यवश वह पुस्तक अप्रकाशित ही पड़ी है। फिजी-प्रवासी भारतीयोंका सामाजिक तथा धार्मिक इतिहास जाननेके लिए उक्त पुस्तकसे बढ़िया दूसरा ग्रंथ लिखा नहीं जा सकता, क्योंकि उक्त पुस्तकमें पंडितजीने अपनी अनुभूतियोंका वर्णन बड़ी जानदार भाषामें किया है।

पंडित तोतारामजीके व्यक्तित्त्वके विषयमें हम अपनी ओरसे कुछ न लिखकर महात्मा गांधीजीके लेखको ही उद्धृत किये देते हैं। यह लेख महात्माजीने अपने स्वर्गवाससे १८ दिन पूर्व 'हरिजन' के लिए लिखा था।

"वयोवृद्ध तोतारामजी किसीकी सेवा लिए वग़ैर गये। वे साबरमती आश्रमके भूषण थे। वे विद्वान नहीं थे, मगर ज्ञानी थे। भजनोंके भंडार होते हुए भी वे गायनाचार्य न थे। वे अपने एकतारेसे और भजनोंसे आश्रमके लोगोंको मुग्ध कर देते थे। जैसे वे थे, वैसी ही उनकी पत्नी थी। वह तो तोतारामजीसे पहले ही चली गई।....

तोतारामजीको धरती प्यारी थी। खेती उनका प्राण थी। आश्रममें बरसों पहले वे आये और उसे कभी नहीं छोड़ा। छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष उनकी रहनुमाईके भूखे रहते और उनके पाससे अचूक आश्वासन पाते।

वे पक्के हिन्दू थे, मगर उनके मनमें हिन्दू-मुसलमान और दूसरे सब धर्म बराबर थे। उनमें छुआछूतकी गंध न थी। किसी क़िस्मका व्यसन न था।

राजनीतिमें उन्होंने भाग नहीं लिया था, फिर भी उनका देशप्रेम इतना उज्ज्वल था कि वह किसीके भी मुक़ाबले खड़ा रह सकता था। त्याग उनमें स्वाभाविक था। उसे वे सुशोभित करते थे।

ये सज्जन फिजी-द्वीपमें गिरमिटिये मज़दूरकी तरह गये थे और दीनबन्धु ऐण्ड्रज उन्हें ढूँढ़ लाये थे। उन्हें आश्रममें लानेका यश श्री बनारसीदास चतुर्वेदीको है। उनकी अन्तिम घड़ी तक उनकी जो कुछ सेवा हो सकती थी, वह भाई गुलाम रसूल कुरेशीकी पत्नी और इमाम साहबकी लड़की अमीना बहनने की थी।

'परोपकाराय सतां विभूतयः'। सज्जन पुरुष परोपकारके लिए ही जीते हैं, यह उक्ति तोतारामजीके बारेमें अक्षर-अक्षर सच थी।

नई दिल्ली १२-१-४८ मोहनदास करमचन्द गांधी"

पंडित तोतारामजी पृथ्वी-पुत्र थे। जो कुछ उनमें था, सहज था, स्वाभाविक था। एक अशिक्षित ग्रामीण बालक कठिनतम परिस्थितियोंमें अपनी परिश्रमशीलता तथा ईमानदारी और परोपकारवृत्तिसे अपने जीवनका निर्माण किस प्रकार कर सकता है, पंडित तोतारामजीका चरित्र इसका एक अच्छा उदाहरण है।

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी

'स्वामी भवानीदयालजीका स्वर्गवास हो गया !' यह दुःखद समाचार 'हिन्दुस्तान'में पढ़कर सहसा चौंतीस वर्ष पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत हो गईं। उन दिनों मैं इन्दौरके राजकुमार-कालेजमें अध्यापक था और स्वामीजी, जो उस समय भवानीदयालजी ही थे, वहाँ सरस्वती-सदनके संचालक भाई द्वारिकाप्रसादजी 'सेवक'के अतिथि होकर पधारे थे। चूँकि प्रवासी भारतीयोंकी सेवाका कार्य मैं १९१४ में ही प्रारम्भ कर चुका था, इसलिए भवानीदयालजीकी मुझपर विशेष कृपा थी। पिछले चौंतीस वर्षोंमें बीसियों बार स्वामीजीसे मिलन हुआ, सैकड़ों ही बार विचार-परिवर्त्तन हुआ और पत्र-व्यवहार तो अन्तिम दिनों तक निरन्तर जारी रहा।

यद्यपि स्वामीजी कोई असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान नहीं थे और न वे कोई स्वतन्त्र विचारक ही थे---उन्हें ऊँचे दर्जेके ग्रन्थकार कहना भी अत्युक्ति होगी---तथापि कार्यकर्त्ता और प्रचारककी दृष्टिसे उनकी गणना प्रथम कोटिमें ही की जायगी। स्वामीजी अत्यन्त परिश्रमी व्यक्ति थे, बेहद लगनके आदमी थे और अपने-आपको खपा देना उनके स्वभावका एक अंग ही बन गया था---बल्कि मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि उनका यह गुण उस सीमा तक पहुँच गया था, जहाँ वह एक दुर्गुण ही माना जाना चाहिए। उदाहरण लीजिए। उपनिवेशोंसे लौटे हुए प्रवासी भाइयोंकी दशाकी रिपोर्ट अंगरेज़ीमें तैयार करनी थी। स्वामीजीने अपना संग्रहीत मसाला मुझे सौंप दिया। मैंने महीने-भरमें रिपोर्ट तैयार कर दी।[1] यह तो कोई

---

[1]हम लोगोंकी उस रिपोर्टका काफी प्रभाव पड़ा था। महात्माजी तथा 'टाइम्स आफ् इण्डिया' इत्यादि पत्रोंने उसकी निष्पक्षता तथा संयत भाषाकी प्रशंसा की थी और सम्पूर्ण भारतीय पत्रोंने उसका स्वागत किया था। स्वामीजीने इन सम्मतियोंको संग्रह करके उन्हें भी पुस्तकाकार प्रकाशित करा दिया ! वह भी तीन सौ पृष्ठोंकी एक पोथी बन गई !

मुश्किल काम नहीं था, पर उस रिपोर्टको छपानेके लिए पन्द्रह सौ रुपयेकी ज़रूरत थी। स्वामीजीने कलकत्तेमें घूमना शुरू किया और उसके लिए चन्दा कर ही लिया। उसकी छपाई कलकत्तेके प्रवासी प्रेसमें कराई गई। स्वामीजी बराबर लगे रहे। जब पुस्तक छपकर आई, तब हज़ार-बारह सौ प्रतियोंको जगह-जगह भेजनेका काम शुरू हुआ। पते वगैरह सब स्वामीजीने ही लिखे, टिकट चिपकाये और विधिवत् प्रत्येक कापी पोस्ट भी की। जिस दिन वे इस कार्यको समाप्त करके अपने ग्रामको रेलसे रवाना हुए, उस दिन वे इतने थके हुए थे और उनका शरीर इतना निर्जीव हो चुका था कि ६ घण्टे तक अपने ग्रामके स्टेशनपर बेहोश पड़े रहे।

जब-जब वे 'विशाल भारत' आफिसमें आते, मेरा उनका एक पेटेण्ट मज़ाक रहता था। मैं उनसे कहता—"'स्वामीजी ! आप पुनर्जन्ममें क्यों नहीं विश्वास रखते ? कुछ काम अगले जन्मके लिए भी छोड़िये। सभी कामोंको इसी जन्ममें क्यों समाप्त कर देना चाहते हैं ?

आज करै सो कालि करि, कालि करै सो परसों;
ऐसी जल्दी कहा परी है, परी भई हैं बरसों !'"

इसपर स्वामीजी खूब हँसते और कहते—'पुनर्जन्मकी यह फिलासफी तुम्हें ही मुबारक हो ! हमें तो काम करते-करते मरना है। आजका काम कलपर टालना तो अधर्म है। ये ऊटपटाँग कहावतें तुमने कहाँसे इकट्ठी कर लीं ?' मैं उनसे यही कहता—"'यह शुद्ध वैदिक धर्म है कि खूब आनन्दके साथ मन आवे तब काम किया जाय; और जब मन न हो, तब काम बिलकुल बन्द रखा जाय। वेदकी यह व्याख्या आप क्या किसी चतुर्वेदीसे अधिक योग्यतापूर्वक कर सकते हैं ?'" स्वामीजी इसपर खिलखिलाकर हँस पड़ते।

कर्मठ कार्यकर्त्ता और सेवक

स्वामीजीके जीवनका एक दर्शन था। अपने ध्येयकी पूर्त्तिके लिए सेठ-साहूकार, राजा-महाराजा, छात्र-अध्यापक, स्त्री-पुरुष—जिस किसीसे

जो-कुछ भी सहायता मिल सके, ली जाय और सर्वथा निस्वार्थ भावसे उसका उपयोग किया जाय, ऐसा वे मानते थे। स्वामीजी जानते थे कि हम सभी त्रुटिपूर्ण हैं और आखिर अधूरे ही आदमियोंकी मददसे हमें अपना काम आगे बढ़ाना है। स्वामीजीके लोक-संग्रहके पीछे यही भावना थी। वे निरन्तर अपने पूरक व्यक्तियोंकी तलाशमें रहते थे और अपनी भलमनसाहत, विनम्रता तथा लगनके कारण उन्हें ऐसे व्यक्ति मिल भी जाते थे। 'विशाल भारतके' सहकारी-सम्पादक स्वर्गीय ब्रजमोहन वर्माको उन्होंने अपना इतना प्रेमी बना लिया था और प्रवासी भारतीयोंका इतना समर्थक कि वर्माजी पंगु होनेके बावजूद दक्षिण-अफ़्रीका-यात्राके लिए तैयार हो गये थे! और भी कई युवकोंको उन्होंने इस कार्यके लिए प्रेरित किया था। भाई राजबहादुर सिंह, श्री प्रेमनारायण अग्रवाल, श्री कन्हैयालाल इत्यादिसे उन्होंने खूब काम लिया था।

इसके सिवा प्रवासी भारतीयोंका काम भी किसी पार्टी-विशेषका नहीं था और भारतके सभी दलों तथा श्रेणियोंकी उनके साथ सहानुभूति थी। स्वामीजी जानते थे 'एक हि साधै सब सधै...', इसलिए अपने जीवनके मुख्य लक्ष्य प्रवासीभारतीयोंकी सेवाको उन्होंने कभी नहीं छोड़ा।

पर स्वामीजीका जीवन एकांगी नहीं था। आर्यसमाज, हिन्दी-प्रचार, प्रवासी भाइयोंकी सेवा और साहित्य-रचना—इन चारों क्षेत्रोंमें स्वामीजीने बड़ी सफलतापूर्वक काम किया। आर्यसमाजी होनेपर भी वे कठमुल्लापनसे कोसों दूर थे। साम्प्रदायिकतासे उन्हें घोर घृणा थी। सभी जातियोंमें उनके मित्र थे। सभीसे उनका भाईचारा था। एक मुस्लिम कार्यकर्त्ताका जीवन-चरित उन्होंने प्रकाशित कराया था और राजा महाराजसिंहजीसे, जो एक प्रतिष्ठित ईसाई-वंशके हैं, उनकी घनिष्ट मैत्री थी। दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ उनकी गणना अपने प्रेमी मित्रोंमें करते थे और अनेक सनातनधर्मावलम्बी भी उनको सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे। वस्तुतः स्वामीजी मनुष्य थे और दीन-हीन भारतीय समाजके सेवक।

स्वामीजीका सबसे आकर्षक गुण उनका भोलापन था। एक बार मज़ाक़में मैंने 'विशाल भारत' में उन्हें 'कालोनियल संन्यासी' लिख दिया। स्वामीजी उस समय 'विशाल भारत' आफिसमें ही बैठे थे। जब वे जाने लगे, तो मैंने उनसे कह दिया कि ये शब्द उनके विषयमें जा रहे हैं। उस समय तो सुनकर वे चुप रह गये, पर आफिससे मील-भर जानेके बाद फिर लौट आये और बोले—'अरे भाई ! वे शब्द आप निकाल दीजिए। उसमेंसे तो बहुत ख़राव ध्वनि निकलती है।' मैंने बहुत समझाया कि यह तो एक निर्दोष मज़ाक़ है, पर स्वामीजीका तर्क था—'प्रवासी भारतीय आपके इस मज़ाकको अन्यथा समझेंगे और इसका कुछ-का-कुछ अर्थ निकालेंगे। इसलिए इस दुविधाजनक हास्यकी चोटसे आप मुझे बचाइये।' स्वामीजीके इस आग्रहको हमें मानना पड़ा।

एक बार भवानीदयालजीने अपनी पुस्तकमें महात्माजीकी कठोर आलोचना कर दी थी। मैंने इसके लिए उनकी भरपूर निन्दा की और महात्माजी तक इस मामलेको पहुँचाया। महात्माजीने इतना ही कहा—'भवानीदयाल ग़लती तो कर सकता है, पर वह ईमानदार है। उसके पितासे भी मेरा सम्बन्ध था। वे तो एक अच्छे साधन-सम्पन्न गृहस्थ थे।' यद्यपि महात्माजीके प्रति स्वामीजीकी अनन्य श्रद्धा थी, पर वे उनके अन्धभक्त नहीं थे। पूज्य बापूजीकी आलोचना करनेकी हिम्मत वे रखते थे।

एक बार जब स्वामीजीके मनमें यह इच्छा हुई कि प्रवासी भारतीयोंका कार्य छोड़कर भारतीय राजनीति-क्षेत्रमें प्रवेश किया जाय, तो महात्माजीने यह भूल करनेसे उन्हें उबारा था। बापूने उन्हें यही आदेश दिया था कि 'भारतीय राजनीतिक क्षेत्रमें तो सैकड़ों कार्यकर्त्ता हैं, तुम उनमें एककी वृद्धि करोगे। पर दीनबन्धुकी मृत्युके बाद प्रवासी भारतीयोंका तो कोई सेवक रहा ही नहीं। तुम भी उन्हें छोड़ना चाहते हो क्या ?' स्वामीजी निरुत्तर हो गये और बापूकी आज्ञा उन्होंने अपने सिरपर रखकर मान्य

की। जीवनके अन्तिम क्षण तक वे प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें लगे रहे।

स्वामीजीके लिखे हुए कई ग्रन्थ हैं। उनके प्रारम्भिक ग्रन्थोंमें 'सत्याग्रह-संग्रामका इतिहास' महत्त्वपूर्ण है। वह एक सजीव और सचित्र पुस्तक थी, और चूँकि स्वामीजीने स्वयं सपत्नीक उक्त संग्राममें भाग लिया था, इसलिए वह पुस्तक काफी प्रभावोत्पादक भी बन पड़ी थी। उनकी 'प्रवासीकी आत्मकथा' भी अपने विषयकी अच्छी पुस्तक है। स्वामीजी किसीके साथ रियायत करनेवाले जीव नहीं थे। उनके पिताजी किस प्रकार उनके लिए विमाता ले आये थे, उसका व्यौरा उन्होंने बड़े कठोर शब्दोंमें दिया है।

व्यवस्था स्वामीजीके जीवनका एक अंग थी। चीज़ोंको यथास्थान रखना, पत्रोंकी फाइल बनाना, अलमारीमें ग्रन्थोंको सजाना, पत्र-व्यवहारको नियमित रखना और जो भी काम हाथमें लिया जाय, उसे ठीक तौर पर निभाना, ये सब बातें उनके स्वभावमें ही प्रविष्ट हो गई थीं। स्वामीजी एक प्रतिष्ठित पत्रकार थे। उन्होंने बिहारके कई पत्रोंका सम्पादन किया था और अफ़्रीकासे भी कई पत्र निकाले थे। उनके द्वारा सम्पादित 'हिन्दी'के कई विशेषांक तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। अपनी मृत्युके समय भी वे 'प्रवासी'का सम्पादन कर रहे थे। प्रवासी भारतीयोंमें यह दुर्गुण है कि वे अन्य अनावश्यक कार्योंमें चाहे लाखों रुपये व्यय कर दें, पर अपने पत्रोंके ग्राहक वे नहीं बनते! 'प्रवासी'के लिए स्वामीजीको पचास-पचास, सौ-सौ रुपये भीख माँगने पड़ते थे और पत्रके प्रत्येक अंकमें ऐसे दानियोंका विस्तृत परिचय भी देना पड़ता था! फिर भी पत्रका खर्च वे नहीं निकाल पाते थे। अपनी मृत्युके पहले तो उन्हें पत्रोंमें कई लेख लिखने पड़े और दुर्भाग्यवश एक सम्पादक महोदयसे उन्हें उन लेखोंका पारिश्रमिक भी नहीं मिला! यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वामीजी कलकत्तेके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके अवसरपर हिन्दी-पत्रकार-संघके सभापति भी हुए थे।

स्वामीजीका जीवन-क्रम और रहन-सहन पाश्चात्य ढंगका था। वे उपनिवेशमें पैदा हुए थे और भोजनालय, शौचालय इत्यादिकी सफाईकी ओर उनका विशेष ध्यान रहता था। अपने प्रवासी-भवनमें उन्होंने सफाईकी सर्वोत्तम व्यवस्था रखी थी। हज़ारीबाग-जेलमें एक बार उन्हें 'ए' के बजाय 'बी' क्लास दे दिया गया और इस परिवर्त्तनसे उन्हें पर्याप्त शारीरिक कष्ट हुआ। उस समय गवर्नरसे पत्र-व्यवहार करके उनका क्लास-परिवर्त्तन कराया गया था। अधिकांश प्रवासी भारतीय यूरोपियन ढंगपर रहनेके अभ्यस्त हो गये हैं और उनसे यह आशा करना कि वे लौटकर भारतीय ढंगपर रह सकेंगे, सर्वथा अनुचित होगा। बिहारके गवर्नर साहबको पत्र लिखते हुए हमने इसी बातपर ज़ोर दिया था कि दक्षिण-अफ़्रीका तथा भारत-सरकारके समझौतेके अनुसार वहाँके प्रवासी भारतीयोंसे यही आशा की गई थी कि वे यूरोपियन जीवन-क्रमको अपनावें, इसलिए स्वामी भवानीदयालजीको 'ए' क्लास मिलना ही चाहिए। पीछे हमें पता लगा कि स्वामीजीके कुछ साथियोंको उनका यह क्लास-परिवर्त्तन अनुचित जँचा। यह उन लोगोंकी असहिष्णुता थी। किसीसे भी तामसिक तपस्याकी आशा क्यों की जाय?

स्वामीजी चायके बड़े शौकीन थे और 'विशाल भारत' आफिसमें जब कभी पंडित पद्मसिंहजी शर्मा तथा स्वामीजीका आगमन होता था, तो हमारे सहकारी श्री ब्रजमोहन वर्मा 'एकटो घोर चा' तैयार कराते और टोस्ट तो उसके साथ होता ही। स्वामीजीका धूम्रपान भी साथ-साथ चलता ही था। स्वामीजी नीरस व्यक्ति नहीं थे। खूब मज़ाक़ करते थे। दूसरोंके प्रति वे सहिष्णु थे और कोरमकोर धर्माडम्बरवालोंसे उनकी कभी न पटती थी। एक बार स्वामीजी किसी आर्य-समाज-मन्दिरमें ठहरे हुए थे कि रातको साढे तीन बजे उठकर एक उपदेशक महोदयने ज़ोर-ज़ोरसे वैदिक मन्त्र पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। स्वामीजीकी नींद खुल गई और उन्होंने तुरन्त ही उपदेशक महानुभावसे कहा—'देखिए महाशयजी,

मैंने भी वैदिक धर्मका कुछ अध्ययन किया है। उसमें यह कहीं भी नहीं लिखा, कि इस प्रकार निर्दयतापूर्वक पड़ोसियोंकी नींद हराम की जाय। यदि आपकी धर्म-अभिलाषा विशेष बलवती तथा जाग्रत है, तो कृपया कहीं एकान्तमें जाकर शान्तिपूर्वक मन्त्रपाठ कीजिये। हम लोगोंपर तो रहम कीजिये।' उपदेशक महोदय स्वामीजीकी पोज़ीशनसे वाक़िफ़ थे। भींगी बिल्लीकी तरह शान्त हो गये।

आफ़िसर-क्लासके साथ व्यवहार करते समय स्वामीजीका भिन्न ही रूप रहता था। उस समय उनके नेतृत्वके गुण प्रकट हो जाते थे, और वे यह हर्गिज़ सहन नहीं कर सकते थे कि उच्च-से-उच्च अधिकारी उनके साथ कोई बेअदबीकी बात करे। एक बार 'सतलज' जहाजके एक अधिकारीने उस समय उनकी कुछ उपेक्षा की थी, जब वे लौटे हुए प्रवासी भारतीयोंकी जाँच करनेके लिए उस जहाज़पर गये थे। बस, स्वामीजीने भारत-सरकारको तुरन्त ही तार दिया और सर हबीबुल्लाको, जो उनसे व्यक्तिगत तौरपर परिचित थे, बीच-बिचाव कराना पड़ा! डेपूटेशनोंमें उन्हें कई बार वाइसराय इत्यादिसे मिलना पड़ता था। उस समय स्वामीजी अपने पद-गौरवके अनुरूप ही व्यवहार करते थे। हमारी शिथिलताओंपर स्वामीजी अक्सर व्यंग किया करते थे। उनका कहना था—'चौबेजी, इन उच्च पदाधिकारियोंसे व्यवहार करनेकी भी एक कला है। ये विनम्रताको कमज़ोरी समझते हैं और झटसे दबोच देते हैं। इनके सामने तो कठोर बनना ही पड़ता है। ऊपरी शिष्टाचारकी बातोंके सिवा मैं इनपर हमेशा रोब ही जमाये रहता हूँ।'

मैं उनसे कहता—'स्वामीजी, यह नेतागीरी तो हमसे नहीं हो सकती।'

स्वामीजी कहते—'इसमें नेतृत्वका सवाल नहीं है, यह तो व्यवहार-कौशल है।'

और स्वामीजी निस्सन्देह व्यवहार-कुशल थे। महिलाओंपर भी उनका जादू चल जाता था। उनसे भी वे समाज-सेवाके कार्य ले लेते थे। उनका संन्यासी-वेश उस वक़्त उनकी बहुत सहायता करता था।

विशाल भारतके निर्माता

महात्मा गान्धी, कवीन्द्र रवीन्द्र और दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ इस त्रिमूर्त्ति को हम विशाल भारत (Greater India)के निर्माता कह सकते हैं। वैसे राजर्षि गोखले, माननीय श्रीनिवास शास्त्री तथा महामना मालवीय-जीने भी प्रवासी भारतीयोंके लिए ख़ूब काम किया था; पर विशाल भारतके निर्माताओंमें उनकी गणना नहीं हो सकती। हाँ, स्वामी भवानीदयालजी-का नाम इन निर्माताओंकी द्वितीय श्रेणीमें अवश्य गिना जायगा और उसका एक कारण है। स्वामीजीका कार्य मुख्यतया हिन्दी-भाषा द्वारा ही हुआ था, जो केवल भारतकी ही नहीं, विशाल भारतकी भी सामान्य भाषा है। शायद ही कोई पढ़ा-लिखा प्रवासी भारतीय होगा, जिसके पास स्वामीजीके ग्रन्थ, रिपोर्ट, लेख या उनके सम्पादित पत्रोंके अंक न हों। स्वामीजी अव्वल दर्जेके प्रोपैगेण्डिस्ट थे और अपनी चीज़ोंको यथा-स्थान पहुँचानेमें तो वे मिशनरियोंको भी मात करते थे। हिन्दी-प्रेम, भारत-भक्ति और पारस्परिक सद्भावनाके सहस्रों बीज स्वामीजीने भिन्न-भिन्न औपनिवेशिक क्षेत्रोंमें बो दिये थे और कभी वे आगे चलकर वृक्षोंका रूप धारण कर लेंगे। ज्यों-ज्यों हिन्दीका सम्मान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें बढ़ेगा त्यों-त्यों स्वामी भवानीदयालजीके कार्यकी महिमामें भी वृद्धि होगी। विशाल भारतके इतिहासमें स्वामीजीका नाम अमर रहेगा।

स्वामीजीका जीवन-वृत्त बिल्कुल अधूरा ही रहेगा, यदि उनकी धर्मपत्नी जगरानीदेवीका ज़िक्र न किया जाय। जब तक वे जीवित रहीं, अपने पतिके प्रत्येक यज्ञमें वे सम्मिलित होती रहीं। दक्षिण-अफ़्रीकाके सत्याग्रह-संग्राममें अपने छोटे-से बालकके साथ उन्होंने जेल-यात्रा भी

की थी। भवानीदयालजीको प्रेरित करके उन्हें काममें जुटानेवाली भी वे ही थीं, और उनके आकस्मिक स्वर्गवाससे भवानीदयालजीका जीवन बिल्कुल अधूरा ही हो गया। वह उनके जीवनकी सबसे भयंकर दुर्घटना थी, पर वे उसे धैर्यपूर्वक सह गये। यद्यपि कई जगहसे प्रस्ताव आये, पर स्वामीजीने दूसरा विवाह नहीं किया। एक बार प्राइवेट तौरपर हमने स्वामीजीसे पूछा, तो उन्होंने हमें बतलाया कि कितने ही व्यक्तियोंने विवाहके लिए उनसे आग्रह किया था। एक महानुभावने तो यहाँ तक धृष्टता की थी कि रातके दस बजे अपनी लड़की स्वामीजीके कमरेमें इसलिए भेज दी कि वह स्वयं स्वामीजीको विवाहके लिए प्रेरित करे! जब स्वामीजीको इस षड्यन्त्रका पता चला, तो उन्होंने बड़ी दृढ़ता, पर विनम्रतापूर्वक इतना ही कहा—'देखो बहन, मेरा शेष जीवन तो अब प्रवासी भाइयोंकी सेवाके लिए अर्पित हो चुका है। जगरानीदेवीकी स्मृतिमें मुझे अपनी शक्तिका कण-कण उसी कार्यमें लगाना है। अब मैं गृह-जीवनमें पुनः प्रवेश नहीं करनेका।' स्वामीजीने अपने इस वचनका अक्षरशः पालन किया।

स्वामीजीके जीवनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग हम उनकी बीमारीके अन्तिम बारह महीनोंको मानते हैं। स्वामीजी जानते थे कि उनकी महायात्रा निकट है; पर वे मृत्युसे लड़े और खूब लड़े और जो भी क्षण इस प्रकार वे निकाल सके, उन्हें प्रवासी भारतीयोंकी सेवामें लगाया।

यद्यपि पिछले बारह वर्षोंमें स्वामीजीसे मेरा पत्र-व्यवहार कुछ कम हो गया था, क्योंकि विपरीत परिस्थितियोंके कारण मैं प्रवासी भारतीयोंके सेवा-कार्यको छोड़ बैठा था; तथापि स्वामीजीने मुझे कभी नहीं बिसारा। न-जाने कितनी बार उन्होंने मुझे आज्ञा दी कि मैं प्रवासी भारतीयोंके कामको पुनः अपने हाथमें ले लूँ। चार-पाँच महीने पहले जब मैंने स्वामीजीको लिखा कि अब मैं कभी-कभी अपने पुराने विषयपर लिखा करूँगा, तो उससे उन्हें कुछ सन्तोष अवश्य हुआ था।

स्वामीजीने अपने अन्तिम पत्रमें, जो उन्होंने मृत्युके २०-२५ दिन पूर्व मुझे भिजवाया था, मुझसे यह आग्रह किया था कि मैं 'प्रवासी'के सम्पादनका भार अपने ऊपर ले लूँ, ताकि वे निश्चिन्त होकर शान्तिपूर्वक परलोक-यात्रा कर सकें ! इस पत्रने मुझे बड़े धर्म-संकटमें डाल दिया। मैं न तो नकारात्मक उत्तर दे सकता था, न स्वीकारात्मक। मैंने उस समय उनकी सेवामें बस इतना ही निवेदन किया—" 'प्रवासी'की ओरसे आप निश्चिन्त रहिये। जिस भावनासे आपने उसे निकाला है, वह तो अमर है ही। 'प्रवासी'की देखभाल करनेवाला कोई-न-कोई निकल ही आवेगा।"

अपने क्षुद्र जीवनमें हमने पचासों कार्यकर्त्ता देखे हैं, पर ध्येयके लिए सम्पूर्णतया सर्मपित स्वामीजी-जैसे व्यक्ति बहुत ही कम दीख पड़े हैं और जीवन-रसकी प्रत्येक बूँदका इस प्रकार सदुपयोग करनेवाले तो और भी दुर्लभ हैं। स्वामीजी कुल जमा ५८ वर्षके थे। अपने चालीस-वर्षीय सार्वजनिक जीवनमें उन्होंने जितना काम कर दिखाया, उतना उससे ड्योढ़ी और दूनी उम्रमें भी कर लेना मुश्किल ही होता। वे परलोक चले गये, पर उनकी कीर्त्ति चिरस्थायी रहेगी और उनके प्रेमी तथा मित्र जीवनपर्यन्त उनकी याद करते रहेंगे।

मई १९५०]

स्वर्गीय पीर मुहम्मद मूनिस

अभी उस दिन आगरेके दैनिक 'सैनिक'को उठाया ही था कि उसमें एक स्थानपर पढ़ा—"बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके १४ वें अधिवेशनके अध्यक्ष पीर मुहम्मद मूनिसका देहान्त, अकस्मात् हृदयकी गति रुक जानेसे २४ सितम्बरकी रातमें हो गया।"

पढ़ते ही कलेजा धक्से हो गया! मैं मूनिसजीकी आत्मकथाके कुछ अध्यायोंकी प्रतीक्षा कर रहा था। मैंने उनसे कई बार प्रार्थना की थी कि वे आत्मचरित लिख दें। पहले तो वे संकोचवश राज़ी नहीं हुए, पर अपनी मृत्युके एक महीनेभर पूर्व उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली थी और अपने २१-८-४९ के पत्रमें लिखा था—

पूज्य भाई!

सादर प्रणाम। अभी ५ बजा है। आपका कृपा-पत्र मिला। रविवार है। इसलिए डाक-पीउन ९ बजेके बजाय ५ बजे आया। मैं एक व्यक्तिसे बातें कर रहा था। चम्पारनके वे एक खास भाई हैं। उनके भाई १९०४-८ में जेल गये थे। उनके भाईका जीवन-सम्बन्धी नोट ले रहा था—उसी समय आपका पत्र मिला। आपके पत्रने मुझमें सचमुच बिजली पैदा कर दी और एक प्रकारका सच्चा साहस और प्रोत्साहन दिलाया। मैं अन्धकारमें था—रौशनी मिल गई। मैं शुद्ध भावनासे प्रेरित होकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि कलसे एक घंटा (आत्मचरितके लिए) अपना समय अवश्य निकाल कर लिखनेका काम करूँगा। आजतक किसीने मुझे ऐसा प्रोत्साहन नहीं दिलाया था। मेरी आत्मकथाके साथ भाई सुन्दर-लाल, राधामोहन गोकुलजी, स्वामी सत्यदेव, सत्यनारायण 'कविरत्न,' गणेशशङ्कर विद्यार्थी, शिवनारायण मिश्र, माधव शुक्ल, बालकृष्ण भट्ट,

बालकृष्ण शर्मा, आर्य्यमुनि, महात्मा मुंशीराम आदिका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध रहेगा, ऐसा मैं समझता हूँ। आपसे प्रार्थना है कि मेरी खबर हमेशा लेते रहनेकी कृपा कीजियेगा। आपके पत्रने मुझ अकर्मण्यको कर्मकी ओर अग्रसर किया। शेष कुशल है।

—पीर मुहम्मद मूनिस

मैं इस बातसे अत्यन्त प्रसन्न था कि आखिर बन्धुवर मूनिसजीने मेरा अनुरोध स्वीकार कर लिया। मेरा-उनका पत्र व्यवहार सन् १९१५ या १९१६ से हो रहा था। उन्होंने मेरी प्रार्थना पर स्व० पंडित तोतारामजी सनाढ्यकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'फिजी द्वीपमें मेरे २१ वर्ष' का उर्दू रूपान्तर कर दिया था। इसके सिवाय सन् १९१७ में अष्टम हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी लेखमालाके लिए "क्या उर्दू हिन्दीसे भिन्न कोई भाषा है?" इस विषयपर एक महत्वपूर्ण लेख मुझे भेजा था। 'विशालभारत'के लिए भी उन्होंने कई लेख लिखे थे। वैसे उनका साक्षात् परिचय तो कलकत्तेमें सन् १९२९ के आसपास हुआ था; पर उनके शुभ नामसे मैं बहुत पहलेसे परिचित था। बन्धुवर श्री द्वारिकाप्रसादजी 'सेवक' जिन दिनों इन्दौर से 'नवजीवन' निकालते थे, उन्हीं दिनों मूनिसजीके कई लेख उक्त पत्रमें छपनेके लिए आये थे, जिनकी शैली बड़ी प्रभावशाली थी। भगवान् श्रीकृष्णपर लिखे गये उनके एक लेखकी तो बड़ी धूम मच गई थी। किसी मुसलमानके लिए उन दिनों श्रीकृष्ण भगवान्के विषयमें इतने श्रद्धापूर्ण उद्गार प्रकट करना खतरेसे खाली नहीं था। एक पत्रमें मूनिसजीने मुझे लिखा था—

"कन्हैया कहाँ हो?"—इस शीर्षकसे एक लेख लिखा था, जो शायद गोरखपुरके 'स्वदेश' में छपा था। इस लेखने मुसलिम संसारके कठमुल्लों में बेतरह बेचैनी पैदा कर दी। समालोचनाएँ हुईं। अन्तमें कुफ्रका बदनुमा धब्बा मेरे सुफेद दामनपर लगाया गया। उस समयसे कुछ चुप्पी साध ली और यही आशा बँधी—पर बोलियो तूही बसन्त लगे जब।"

राष्ट्रवादी मुसलमानोंकी दोनों ओरसे आफ़त रही है। अपने मुसलिम सम्प्रदायमें वे काफिर समझे जाते थे और हिन्दू समाज उन्हें अविश्वासकी दृष्टिसे देखता था ! अपने ३–५–३७ के पत्रमें उन्होंने लिखा था––

"मैं एक प्रकारसे उदासीन होकर बैठ गया हूँ। कुछ लिखता-पढ़ता नहीं––पर गोशानसीको भी अख्तियार नहीं किया। साहित्यिक क्षेत्रमें साम्प्रदायिकताका बढ़ता हुआ भाव देखकर स्वर्गीय कविके सुर-में-सुर मिलाते हुए––

सुन मीत कहा बहिरे जन की या निवास थलीन पै जाइबे में।
अरु कोकिल ! बारहिबार तुम्हें मधुरै निज बैन सुनाइबे में।
जिनको विधि बाम दिये ही नहीं युग कानिकी आयु बनाइबेमें।
नहिं चूकेंहिगे मतिहीन कछू, हठि आँगुर तोहि दिखाइबे में।

के अनुसार चुपचाप बैठा हुआ दूसरी ओर अपनी शक्ति लगाये हुए था। पर अब समय बदल रहा है––'तू भी फलक बदल, कि ज़माना बदल गया।' इस आश्वासनके अनुसार अब चुपचाप बैठना भी अच्छा नहीं है। साम्प्रदायिकताका ज़माना बड़े वेगसे गुज़र रहा है। रंग-ढंग अच्छे नज़र आ रहे हैं। अब आप लोगोंका काम है, समाजके ख़यालात के अनुकूल साहित्यकी रचना करें।. . ."

जब सन् १९४४ में मैंने उनसे आग्रह किया कि आप अपनी अनुभूतियाँ लिख दें, वे घोर आर्थिक संकटमें से गुज़र रहे थे और हतोत्साह थे। उन्होंने मुझे लिखा था––

"मैं अपनी अनुभूतियाँ क्या लिखूँ, समझमें नहीं आता, क्षमा करें। यदि अधिक तंग करेंगे तो फिर विचार करूँगा। दुनियाके उपहास और समालोचनाओंसे बहुत डरता हूँ। स्वर्गीय हाशमी साहब वाला नोट 'विशाल भारत'में पढ़ा था। जबसे आप 'विशाल भारत' से हटे, उस समयसे वह मेरे पास नहीं आता। आर्थिक दुर्दशाके कारण उसे मँगा नहीं सकता।

इस ज़मानेमें कौन व्यक्ति साम्प्रदायिक है और कौन नहीं, समझना मुश्किल है। मेरी तो यही धारणा है कि

रास्ती मूजिबे रज़ाये खोदास्त
कस न दीदमके गुमशुद अज रहे रास्त।

अर्थात् सत्यता परमात्माकी रज़ामन्दीका कारण है। मैंने किसीको नहीं देखा कि सीधी राहसे गुम हुआ।"

स्वर्गीय मूनिसजीने चालीस वर्षसे अधिक हिन्दी साहित्यकी सेवा की। उनका प्रथम लेख 'नील-विभ्राट' सन् १९०७ या १९०८ में 'हिन्दी केसरी' में प्रकाशित हुआ था और अपने अन्तिम दिनोंमें वे 'चम्पारनका इतिहास' लिख रहे थे। १९४०-४१ में मोतिहारी जेलमें उन्होंने उसका ढाँचा तैयार कर लिया था। अपनी ४१-४२ वर्षकी साहित्य-सेवा और देश-सेवाके दिनोंमें उन्हें जो कष्ट उठाने पड़े उनका व्यौरा भी उन्हींके साथ चला गया!

जब मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे स्व० गणेशजीके संस्मरण मेरे लिए लिख दें तो उन्होंने अपने एक पत्रमें लिखा था—

"आपका पहला पत्र ता० ९ को और दूसरा १३ को मिला। दोनों पत्रोंका उत्तर एक साथ इसलिए देना पड़ रहा है कि मैं मानसिक और पारिवारिक कष्टोंसे इस समय बेतरह परेशान हूँ। मेरा पौत्र मुहम्मद क़ासिम (जिसकी अवस्था केवल चार वर्षकी है) १६–१७ रोज़से ज्वरग्रस्त है। नित्य डाक्टरोंके दरे-दौलतपर दस्तक और हाज़िरी बजा लाना मेरा प्रधान कर्त्तव्य हो गया है। मुहम्मद क़ासिमका ज्वर नित्य उतरता है और चढ़ता है। रोज़-रोज़ डाक्टरोंकी फ़ीस और दवा-दारूमें प्रायः ४–५ रुपये सर्फ करने पड़ते हैं। मेरा लड़का मुहम्मद सुलेमान भी बेकार है और मेरा तो पूछना ही क्या? मुँहका आहार (धान) बेच-बेच कर किसी प्रकार काम चलाता हूँ। इस गिरानीके ज़मानेमें धान बेचकर आइन्दाके लिए अपने सिरपर मुसीबत उठानेकी कोशिश कर रहा हूँ। लाचारी और

मजबूरी जो न करा डाले वह थोड़ा; ये तो पारिवारिक मजबूरियाँ हैं। और अपने विषयमें पहले ही निवेदन कर चुका हूँ। जेलमें मधुमेह शुरू हुआ। पेटकी खराबीके कारण कुछ दाँत तुड़वाने पड़े। आँखें कमज़ोर हो गईं। ५४–५५ वर्षकी अवस्था और आर्थिक तथा मानसिक कष्ट। यही सब मजबूरियाँ हैं जो चित्तको उद्विग्न किये रहती हैं। आर्थिक दशा शोचनीय होनेके कारण मित्रोंके पत्रोंका उत्तर ठीक समयपर देना मेरे लिए प्रायः मुश्किल हो जाया करता है।"

२० अप्रैल सन् १९४५को लिखा हुआ उनका पत्र पढ़ लीजिये—

गंज, बेतिया, २०-४-४५
ज़िला चम्पारन

आदरणीय पण्डितजी,

सप्रेम वन्दे।

आपको यह सुनकर आन्तरिक दुःख होगा कि मेरे एकमात्र पुत्र मुहम्मद सुलेमानने, जिसकी अवस्था अभी २६ वर्षकी थी—विगत ता० ८-४ रविवारकी रात्रिमें इहलीला समाप्त की। मुहम्मद सुलैमान ८-९ महीनेसे बीमार था। टी. बी. हो गया था। मेरा एकमात्र वही सहारा था। घरका सारा काम-काज वही देखता था। हिन्दी, उर्दू और अँगरेज़ी तीनों भाषाओंका ज्ञाता था।

४ वर्षका एक पुत्र और २ वर्षकी एक कन्या छोड़कर चल बसा। उसकी माता और उसकी विधवा स्त्रीका करुण क्रन्दन हृदयको विकंपित कर रहा है। मैं अधीर और व्याकुल हो गया हूँ। ज्ञान और विवेक—सबने साथ छोड़ दिया। किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा हूँ। संसार मेरी आँखोंके सामने सूना नज़र आ रहा है। घरमें जो कुछ था बेचकर उसकी बीमारीमें ख़र्च कर डाला। डाक्टर हकीम और वैद्य सबकी दवा की, पर कालबलीसे कोई न बचा सका। परमात्माकी इच्छा बलवान है!

आपका
—पीर मुहम्मद मूनिस

भाई मूनिसजीके इस पत्रकी नक़ल कराके मैंने कई मित्रोंको इस आशासे भेजी थी कि शायद वे इस वज्रपातके समयमें उस जराजीर्ण साहित्यिक बन्धुकी कुछ सहायता कर सकेंगे, पर जहाँ तक मैं जानता हूँ, मेरी वह प्रार्थना निरर्थक ही गई !

और मूनिसजी कोरमकोर साहित्यिक ही नहीं थे। उन्होंने राजनैतिक क्षेत्रमें भी अत्यन्त सराहनीय काम किया था। चम्पारनके निलहे गोरोंके अत्याचारोंसे पीड़ित १९ लाख किसानोंकी दुःखगाथा सुनानेके लिए वे सन् १९१०में इलाहाबाद गये थे और कर्मवीर पंडित सुन्दर-लालजीके मकानपर ठहरे थे और वहींपर उनका परिचय स्व० गणेश-शङ्करजी विद्यार्थीसे हुआ था। पंडितजीने तथा विद्यार्थीजीने उनसे यही कहा कि इस वक़्त कांग्रेस द्वारा इस बारेमें कुछ भी होनेकी उम्मीद नहीं दीखती, बेहतर यही होगा कि पहले समाचार-पत्रों द्वारा जनताके कानों तक चम्पारनके किसानोंकी आर्त्त कथा पहुँचाई जाय। गणेशजीने कहा—"मैं आपकी पूरी-पूरी मदद करूँगा। कुछ दिन और ठहर जाइये।" 'अभ्युदय'में गणेशजीको काम मिलनेवाला था और उसके मिलनेपर उन्होंने अपने वचनका पालन भी किया। चम्पारनके लिए मूनिसजीने और गणेशजीने कितना परिश्रम किया उसकी सम्पूर्ण कथा सुनानेवाला अब कौन है ? यह बात ध्यान देने योग्य है कि चम्पारनकी दुखगाथा सुनानेके लिए जितना कार्य मूनिसजीने किया उतना शायद ही किसी दूसरे लेखकने किया होगा। इसके लिए उन्हें अपनी नौकरीसे भी हाथ धोना पड़ा था।

मूनिसजीका एक लेख 'राष्ट्रभाषा हिन्दी हो', १९०९के 'कर्मयोगी'में प्रकाशित हुआ था। उसे पढ़कर स्व० बालकृष्णजी भट्टने उनसे कहा था—"तुम लिखा करो और हमेशा लिखो। कुछ दिनोंमें तुम्हारी भाषा और शैलीकी क़द्र होगी।"

स्व० राधामोहन गोकुलजीने मूनिसजीकी लेखशैलीपर मुग्ध होकर कहा था—"आप कलकत्ते चलें तो आपकी शिक्षा-दीक्षाका सम्पूर्ण भार

वहन करनेकी ज़िम्मेवारी मेरे एक मित्र ले सकते हैं।" पर मूनिसजी कलकत्ते नहीं जा सके।

श्रीयुत हरिहरप्रसादजीने २६ दिसम्बर सन् १९३७के 'प्रताप'में लिखा था——

"श्रीयुत मूनिसजीकी दयनीय दशा देखकर किसकी आँखोंमें पानी नहीं उतर आयेगा ?"

अपने एक पत्रमें मूनिसजीने स्वयं लिखा था——"यदि मेरा आर्थिक कष्ट कुछ कम हो जाय तो मैं फिर साहित्यिक क्षेत्रमें कमर कसकर तैयार हो जाऊँ और साहित्य-सेवा ही अपना अन्तिम ध्येय तसव्वर कर लूं, भोजन और वस्त्र तो किसी प्रकार मिल जाता है, पाकेट ख़र्चका अभाव कठिनतामें डाल देता है। इसलिए पत्र लिखनेमें हमेशा दिक्क़तोंका सामना करना पड़ता है।"

जब मैंने उनसे आत्मचरित लिखनेका आग्रह फिर किया तो उन्होंने लिखा——"मैं चार महीनेसे सख़्त बीमार हूँ। मधुमेह तो सता ही रहा था, फ़र्वरीसे काला आज़ार, तेहाल, वर्मेजिगर आदि कई बीमारियों ने मुझे अपना शिकार बना लिया है। एकमात्र खेती ही हम लोगोंकी जीविका है। जनवरीमें १५-२० रोज़ खेत ही पर रहना पड़ा। उसी स्थानपर मलेरिया ज्वर शुरू हुआ जो आजतक भोग रहा हूँ. . .आत्म-चरित लिखकर क्या करूँगा ? कई पुस्तकें पड़ी हुई हैं, जो अर्थाभावसे प्रकाशित नहीं हुई।"

यह परिस्थिति थी एक देशभक्त हिन्दी लेखककी, जो बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनका संस्थापक था, जो आगे चलकर उसका अध्यक्ष भी निर्वाचित हुआ और जिसने ४० वर्षसे अधिक मातृभाषाकी सेवा की !

जिस प्रकार मूनिसजीका गार्हस्थिक जीवन कष्टपूर्ण रहा, उसी प्रकार उनका साहित्यिक जीवन भी अनेक दुर्घटनाओंसे परिपूर्ण रहा ! मूनिस-जीने समाचार-पत्रों तथा मासिक-पत्रोंमें जो सैकड़ों लेख लिखे थे उनमेंसे

चुने हुए ४५ लेखोंका संग्रह उन्होंने भाई द्वारिकाप्रसादजी सेवकको भेज दिया था, पर सेवकजी अपनी आर्थिक कठिनाइयोंके कारण उन्हें छपा नहीं सके और उन्होंने मूनिसजीको उक्त संग्रह वापस भेज दिया। तत्पश्चात् वह श्री आनन्दबिहारीजी, लहेरियासराय, दरभंगाके पास पहुँचा और उनके कथनानुसार वह भूकम्पके समय नष्ट हो गया! बेचारे मूनिसजीके पास दूसरे कटिङ्ग थे ही नहीं।

मूनिसजीने 'हिन्दुस्तान सल्तनत मोगलिया'का अनुवाद किया था, वह कागज़की गिरानी और आर्थिक कष्टके कारण न छप सका। 'फ़िजी द्वीपमें २१ वर्ष'का उर्दू रूपान्तर लखनऊके जिन सज्जनको भिजवाया गया था उनका घर ही गोमतीकी बाढ़में बह गया और उसके साथ मूनिसजी द्वारा अनुवादित पुस्तक भी डूब गई! 'चम्पारनका इतिहास' अधूरा ही रह गया और आत्मचरित तो वे शायद प्रारम्भ ही नहीं कर सके।

अपने अन्तिम पत्रमें, जो उन्होंने २६-८-४९को मुझे भेजा था, उन्होंने लिखा था--

"मैं अभी तक आपकी आज्ञाका पालन न कर सका। २१ तारीख़से ही हृदयकी धड़कन शुरू हो गई थी। निश्चिन्त होकर कोई काम नहीं कर सकता और न एक स्थानपर कुछ देर बैठ सकता हूँ। दवा हो रही है। पहलेसे अब अच्छा हूँ। शेष कुशल है।"

मुझे आशा थी कि मूनिसजी शीघ्र ही स्वस्थ हो जायेंगे और अपने अधूरे ग्रन्थोंको पूरा कर देंगे। पर ऐसा न हुआ! जिस साहित्यिक बन्धुने इस युगमें रहीम और रसखानकी परम्पराको क़ायम रखनेके लिए इतनी साधना की--और कितनी कठोर परिस्थितियोंमें?--और जो अपने सम्प्रदायकी घृणा और हम लोगोंकी उपेक्षाके बावजूद हिन्दी माताकी सेवामें ४० वर्ष लगा रहा, राजनैतिक क्षेत्रमें भी जिसकी सेवाएँ उल्लेखनीय थीं, उस तपस्वीकी स्मृति-रक्षाके लिए क्या हम लोग कुछ न कर सकेंगे?

स्वर्गीय वर्माजी

"ये हैं 'विशाल भारत' कुटुम्बकी बहू और मैं सास हूँ" . . . . माननीय श्रीनिवास शास्त्रीको जब मैंने वर्माजीका परिचय दिया तो वे मुस्कराकर कह उठे--

"अब आपको एक भी शब्द अधिक कहनेकी ज़रूरत नहीं । मैं सम्पूर्ण स्थिति समझ गया । बहूको ही सबसे अधिक परिश्रम करना पड़ता है । सबसे पहले उठना पड़ता है और सबसे पीछे सोना । और उसीपर कुटुम्ब-का सारा बोझ पड़ता है !"

शास्त्रीजी बहुत देर तक हँसते रहे, और हमने भी उनका साथ दिया । वे समझ गये कि वर्माजी ही 'विशाल भारत'की आत्मा और प्राण हैं और इसकी सफलताका पचहत्तर प्रतिशत श्रेय उन्हींको है ।

सवेरे-शाम, सोते-जागते वर्माजीको 'विशाल भारत'की ही चिन्ता रहती थी । कभी कहते . . . . "आज रातको दो बजे मुझे ख़्याल आया कि जिस चित्रकी हम लोग तलाशमें हैं, वह 'माडर्न'रिव्यूके अमुक अंकमें निकल चुका है । हम लोगोंको ब्लाक नहीं बनवाना पड़ेगा ।" और मैं झट मज़ाक़में उनसे कहता . . . . "वर्माजी आप भी अजीब आदमी हैं । रातको दो बजे क्या फ़ालतू चीज़ें सोचा करते हैं ! पाँच-सात रुपयेमें हम लोग नया ब्लाक तैयार करा लेते । आप अपनी नींद क्यों हराम करते हैं ? इसीलिए मैं कहता हूँ कि आपको तो तुरन्त शादी कर लेनी चाहिए, जिससे आप सुखकी नींद तो सो सकें ।"

वर्माजीका विवाह 'विशाल भारत' कार्यालयका एक पेटेंट मज़ाक़ था और हम सब उसके लिए नवीन-नवीन अवसर तलाश किया करते थे । एक बार लाल बाज़ार कलकत्तेके एक पुलिस आफ़िसरने अच्छा

मौक़ा दे दिया। वर्माजीने हाल ही में लाला हरदयालजीके एक महत्त्व-पूर्ण लेख 'कार्लमार्क्स'का हिन्दी अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित किया था और उसीके बारेमें पूछताँछ करनेके लिए पुलिसका वह अधिकारी 'विशाल भारत' आफ़िसमें आया था।

अन्य अनेक प्रश्न करनेके बाद पुलिसके उस अधिकारीने वर्माजीसे पूछा, "आपकी शादी हुई है ?"

तुरन्त ही मैंने उत्तर दिया, "अरे साहब ! इसीका तो झगड़ा है। इनकी शादीका न होना ही सारी ख़ुराफ़ातोंकी जड़ है। रात-रात भर जगकर ये षड्यन्त्र किया करते हैं। आप कुछ प्रबन्ध कर सकें तो बहुत अच्छी बात है। इनके क्रान्तिकारी दिमाग़की उपज इसी तरह रुक सकती है।"

इसपर वर्माजी तो सिर्फ़ मुस्कराये, पर हम लोग खिलखिला कर हँस पड़े। तबसे वर्माजीके विवाहमें एक नवीन अध्याय जुड़ गया—लाल बाज़ारमें सगाई।

× × ×

वस्तुतः वर्माजीकी स्मरण-शक्तिको देखकर आश्चर्य होता था। एक बार उन्होंने मुझे यह बतला दिया था कि तीन वर्ष पहले मैंने किसी पत्रमें अमुक सज्जनको यह वाक्य लिखा था।

यह स्मरणशक्ति उन्हें अपने पूज्य चाचा श्रीकृष्णबलदेवजी वर्मासे विरासतमें मिली थी। फिर हड्डीके क्षयकी बीमारीमें उन्हें बिना हिले-डुले खाटपर नौ महीने पड़े रहना पड़ा था और उन दिनों उन्होंने 'माडर्न रिव्यू'की पुरानी फ़ाइलोंका विधिवत् अध्ययन कर लिया, जो आगे चलकर 'विशाल भारत'के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

कलकत्ते पहुँचनेपर श्री कृष्णबलदेवजी वर्मासे भेंट न हुई होती तो शायद मुझे ब्रजमोहन वर्माका परिचय भी प्राप्त न होता।

एक दिन वे (कृष्णबलदेवजी) अपने भतीजे ब्रजमोहनको लेकर

'विशाल भारत' कार्यालयमें पधारे और आते ही कहा, "लीजिए, मैं अपने साहित्यिक उत्तराधिकारीको आपके सुपुर्द किये देता हूँ, वह कुछ-कुछ उर्दू जानता है और अँग्रेज़ी भी।"

संकोचवश मैं कुछ न कह सका। पर मनमें यह विचार अवश्य आया कि कृष्णबलदेवजीने यह अच्छा भार मेरे सिरपर ला डाला!

उस समय तक मैंने ब्रजमोहन वर्माका कोई लेख नहीं पढ़ा था। अब पता चला कि वे चतुष्पादके नामसे लिखते रहे हैं। इस उपनामसे मैं परिचित तो था ही, पर बैसाखीके सहारे चलनेवाला यह युवक ही डाक्टर चतुष्पाद है, इसका मुझे बिलकुल पता न था।

न जाने क्या सोचकर मैंने चकबस्तकी 'सुबहे वतन' इस विचित्र प्राणीके हाथमें देते हुए यह सुझाव रखा कि वह इस काव्य-ग्रन्थका साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत कर दे। 'सुबहे वतन'पर वर्माजीने ऐसी फड़कती-हुई आलोचना लिखी कि उसे पढ़कर तबीयत खुश हो गई।

× × ×

वर्माजी बड़ी ज़ोरदार भाषा लिखते थे। उनका शब्द-भंडार विस्तृत था। इसका एक कारण यह भी था कि वे उर्दूकी गतिविधिसे खूब परिचित थे। एक बार मैंने कहीं लिखा था....'वृक्षकी पत्तियोंके ऊपरका हिस्सा,' वर्माजीने उसे काटकर 'फुनगी' लिख दिया।

एक दिन मुझे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीका पत्र मिला :--

"उस दिन चैत्रकी 'माधुरी'की कापी मिली। लेख-सूची पढ़ी। उसमें एक लेख मिला....'उर्दू कवितामें इसलाह'। उसे पढ़वाकर सुना। बड़ी खुशी हुई। लेख बहुत पसन्द आया। लेखक काव्यमर्मज्ञ और बड़े ही सरसहृदय हैं। उन्होंने अपने एक मिसरेमें खुदाके साथ रियायत की है। उनका कहना है....

"अगर सौ बार सर मारे तो मुश्किलसे खुदा समझे,"

मुझे यह अन्याय खला है। मेरी रायमें तो

'अगर सौ साल सर मारे तो शायद ही ख़ुदा समझे, ...'

यदि वह लाइन इस तरह कही जाती तो असलियतके ज़्यादा क़रीब पहुँच जाती। लेखकका नाम ब्रजमोहन वर्मा है। आपके सहकारी सम्पादकका भी यही नाम है। क्या यह लेख उन्हींका है? यदि हाँ, तो आप बड़े ख़ुशक़िस्मत हैं, जिन्हें इतना सहृदय और काव्यतत्वज्ञ सहायक मिला।"

वर्माजीने इस महत्त्वपूर्ण पत्रको सार्टीफिकटके तौरपर रख छोड़ा था और निस्सन्देह उससे वर्माजीको बहुत प्रोत्साहन मिला।

नई बातें जाननेकी इच्छा ब्रजमोहन वर्माको बराबर रहती थी। एक बार उनका एक विस्तृत लेख छपा, जिसमें गर्भवती स्त्रियोंके भोजन इत्यादिके बारेमें बड़ी खोजपूर्ण बातें लिखी गई थीं। वह लेख उन्होंने हम लोगों को बिना दिखलाये ही एक मासिक पत्रमें भेज दिया था! जब वह छपकर आया तो हम लोग चकित रह गये। न जाने कितना समय उन्होंने उस लेखपर लगाया था। वैद्यों और डाक्टरोंसे पूछताँछ की थी और तत्सम्बन्धी ग्रन्थोंका अध्ययन भी। वह लेख भी मज़ाक़का एक साधन बन गया। हम सब यही कहते. . . . "देखिए वर्माजी, इस प्रकारकी अनधिकार चेष्टा आप हर्गिज़ न किया कीजिए। यह मदाख़लत बेजा है। जिस कूचे में आपको कभी पैर नहीं रखना उसके बारेमें इतनी छान-बीन क्यों?"

अनेक अछूते विषयोंपर उनकी लेखनी बराबर चला करती। आज वे भूचालपर लिख रहे हैं, तो कल यूरोपमें युद्ध-सामग्रीपर। हम सदैव यही कहते—"फिर वही अनधिकार चेष्टा? उस लेखवाले मामलेमें हमने मुआफ़ कर दिया था, अब आपकी हिम्मत बढ़ती जाती है!"

हास्य प्रवृति वर्माजीके व्यक्तित्वकी सबसे बड़ी विशेषता थी। प्राय: वे स्वयं भी बड़ा गहरा मज़ाक़ करते थे। उस समय वे अपनी हँसी उड़ानेसे भी संकोच नहीं करते थे। मित्रोंकी गोष्ठीमें ही नहीं,

मित्रोंको लिखे गये पत्रोंमें भी अपने ऊपर बड़ीसे बड़ी फब्ती कसनेसे वे नहीं चूकते थे। उन्होंने १७ अक्टूबर १९३५के एक पत्रमें मेरे अनुज स्वर्गीय रामनारायणको लिखा था--

"आपको शायद मालूम ही होगा कि मैं ११ अगस्तसे १८ सितम्बर तक छुट्टीपर था। इस बीच में बर्माकी सैर कर डाली। रंगून, पेगू, मांडले, मेम्यों, पगान आदि जगहें देख डालीं। डेक यात्राका वृत्तान्त आपको अक्टूबरके 'विशाल भारत'में 'खुदाईका मास्टरपीस' लेखमें मिल जायगा।

बर्मा जाते वक्त चतुर्वेदीजी तथा अन्य मित्र सब मेरी यात्राके उद्देश्यपर शक करते थे। सब कहते थे कि अकेले जा रहे हो, दुकेले होकर लौटोगे! संक्षेप में--

"सबके मन सन्देहका, बहता यही प्रवाह।
वर्माजी बरमा चले, वरमालाकी चाह॥"

लेकिन मैं अकेला ही गया था और अकेला ही लौट आया। अब यार लोग बर्मा निवासियोंकी मूर्खतापर कहते हैं--

वर्माजी बरमा तक भटके, पर न मिली वरमाला।"
बर्मी सब बुद्धू ही निकले बना न कोई साला।"

वर्माजी चाहते थे कि एक बार दक्षिण अफ्रीका भी हो आयें। डेढ पसलीके उस पिंजरमें कितना उत्साह भरा था!

वर्माजी कार्यालयमें नियमानुसार साढ़े दस बजे पहुँच जाते थे और साढ़े पाँच बजे तक बराबर काम किया करते थे। और मेरा समय था, ग्यारह बजेसे साढ़े बारह तकका यानी जब तक डाक आ जाये। उस डेढ़ घंटेमें हम सबका मुख्य काम यही था कि वर्माजीसे मज़ाक़ किया जाय। पांडेजी प्रूफ़ देखना बन्द कर देते। वर्माजी चिन्तित हो जाते कि कम्पोज़ीटर अभी आता होगा। झट प्रूफ़ उठाकर खुद ही देखने लगते। पांडेजी कहते, "आप घबराते क्यों हैं, वर्माजी? अभी आपको फ़र्स्ट

क्लास ज़र्देके साथ पान खिलाता हूँ। इसपर सारा कमरा क़हक़होंसे गूंज उठता"।

'विशाल भारत'में प्रकाशित होनेवाले 'चाय चक्रम'में वर्माजीने पांडेजीका नाम 'नटखट पांडे' रख दिया था। एक दिन कहींसे विवाहका निमन्त्रण-पत्र आया। उसके आधे हिस्सेको काटकर हमने वर्माजीके विवाहका निमन्त्रण बना दिया और नीचे सबके हस्ताक्षर करा दिये। उसमें वधूके स्थानपर बिल्लीका चित्र बना दिया गया था। ज्यों ही वह पत्र वर्माजीको दिया गया कि उन्होंने तुरन्त ही उसपर लिख दिया--

"मंजूर है मुझको वही आज्ञा जो कुछ हो आपकी।
शर्त लेकिन है यही बिल्ली न हो पंजाबकी॥"

इसपर ख़ूब मज़ा रहा। हिन्दीके एक विवाहेच्छुक सम्पादक महोदयको वर्माजीने पंजाबकी ही एक कल्पित कन्याके साथ विवाह करा देनेके चक्करमें बुरी तरह फाँस दिया था।

हँसने-हँसानेके दृष्टिकोणके पीछे वर्माजीके जीवनकी फ़िलासफ़ी थी। एक पत्रमें उन्होंने श्री उपेन्द्रनाथ अश्कको लिखा था--

"आपका यह कहना ठीक है कि हम लोग जो हँसते हैं, वह अपने दुख को दबानेके लिए। लेकिन मैं समझता हूँ, यह मार्ग ठीक ही है।

ऐ शमा तेरी उम्र तवई है एक दिन।
हँसकर गुज़ार दे, चाहे रोकर गुज़ार दे॥

'हँसकर गुज़ारना' 'रोकर गुज़ारना'से बेहतर है। चारों ओर दुख ही दुख है, अतः हमें इस बुरे सौदेमें भरसक लाभ प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए। मेरा तो यही मक़ूला है....मेरा जीवन स्वयं एक काफ़ी बड़ा दुखान्त है। जिस समय मैं अपने दुखान्तके अन्धकारमें डूब रहा था, उस समय इत्तफ़ाक़से मैंने प्रसिद्ध अमेरिकन कवियित्री ईला विलकाक्स'की एक कविता पढ़ी। उस कविताने मुझे सबसे बड़ी सान्त्वना

दी। संसारके दुखोंको झेलनेके लिए उसकी वह कविता खासी फ़िलासफ़ी है। हँसो और सारा संसार तुम्हारे साथ हँस देगा, रोओ और तुम्हें अकेले ही रोना पड़ेगा। इसलिए इस पुरानी धरतीको खुशियाँ ही उधार लेनी होती हैं, दुख तो इसके पास अपना ही यथेष्ट है।"

पर वर्माजीके हास्यमय जीवनके पीछे महान् गम्भीरता और अदम्य परिश्रमशीलता भी थी। उन्हें बराबर यह चिन्ता रहती थी कि 'विशाल भारत'के लेखकोंकी कीर्तिका विस्तार कैसे हो। उन्हें वे निरन्तर परामर्श दिया करते थे। बीसियों लेखकों तथा कवियोंसे उनका भाईचारा हो गया था। 'विशाल भारत' कार्यालयमें जो कोई पहुँचता उसका आतिथ्य करना उन्हींका काम था।

कार्यालयका चपरासी रामधन तो उनका विशेष कृपा-पात्र था। वर्मा जीके सर्वोत्तम संस्मरण भाई रामधन ही के लिखे हुए हैं।

अपने नौ-दस वर्षके साहित्यिक जीवनमें ब्रजमोहन वर्माने जितनी ठोस पाठ्य सामग्री उपस्थित की, उतनी दूसरे लेखकके लिए इससे दूने वक्तमें भी मुश्किल ही होती। और यह तब, जब कि 'विशाल भारत' जैसी संस्थाका तीन-चौथाई बोझ उनपर था।

सन् १९३७में जब मैं 'विशाल भारत' कार्यालयसे लम्बी छुट्टी ले चुका था, ब्रजमोहन वर्मा बीमार पड़ गये और मुझे उन्हें उसी अवस्थामें छोड़कर टीकमगढ़ आना पड़ा। जब मैं उनसे विदा लने गया तो मैंने देखा कि वे 'विशाल भारत'के लिए अत्यन्त चिन्तित हैं। मैंने उनसे कहा ...."वर्माजी आप पहले स्वस्थ हो जायें, फिर 'विशाल भारत'की फ़िक्र कर लेना"। पर वर्माजी भला क्यों माननेवाले थे? उनका तो यह हाल था कि जब 'विशाल भारत' कार्यालयका चपरासी रामधन उनके पास जाता तो सबसे पहले वे यही पूछते, "'विशाल भारत' कितना कम्पोज़ हुआ, उसके कितने फ़र्मे छपे?" यद्यपि लंम्बी बीमारीके कारण वे अत्यन्त निर्बल हो चुके थे और बोलनेमें भी बहुत श्रम पड़ता था।

२५ अक्टूबर १९३७को उन्हें पथ्य मिला और २७ अक्टूबरको उन्होंने मुझे एक पत्रमें लिखा....

"६५ दिन बाद मेरा बुख़ार उतरा, लेकिन पेटकी शिकायतें अभी तक बनी हैं। उन्हें दूर होनेमें अभी टाइम लगेगा। परसों पथ्य मिला है। कमज़ोरी इतनी है कि शायद १० नवम्बर तक मैं कुछ चलने-फिरने क़ाबिल होऊँ। यदि १० नवम्बर तक इस क़ाबिल हो गया कि सीढ़ियाँ उतर सकूँ तो किसीको साथ लेकर एक महीनेके लिए स्वास्थ्यके लिए कहीं बाहर जाऊँगा। सभी मेरे लिए वायु-परिवर्तन बहुत ज़रूरी बता रहे हैं। ऐसी हालतमें मैं १० दिसम्बरसे पहले कार्यालयमें कार्य आरम्भ नहीं कर सकता।

आपको दिसम्बरमें शान्ति निकेतन जाना ही है। कृपा करके आप १५ नवम्बर तक यहाँ आ जायें और १५ दिन यहाँ रहकर दिसम्बरके अंकका ठीक-ठाक कर दें। जनवरीका मैं ठीक कर लूँगा। आपके आये बिना ठीक न होगा। कृपा करके 'विशाल भारत'पर इतनी कृपा ज़रूर करें। जनवरीका नम्बर वी० पी०से जायगा, इसलिए यह ज़रूरी है कि दिसम्बरका अंक अच्छा निकले। कमज़ोरीकी वजहसे अधिक लिख नहीं सकता।

आपका

ब्रजमोहन वर्मा"

यह पत्र उन्होंने बहुत धीरे-धीरे बड़े परिश्रमके साथ लिखा था और अन्तिम पंक्ति तक पहुँचते-पहुँचते उनका हाथ काँप गया था! पत्रमें 'लिख नहीं सकता', और 'आपका ब्रजमोहन वर्मा' बिल्कुल काँपकपाता हुआ लिखा गया है।

खेद है कि कई आवश्यक कार्योंके कारण मैं कलकत्ते न पहुँच सका। ७ दिसम्बर, १९३७को बन्धुवर श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'ने एक पत्र

वर्माजीकी बीमारीके विषयमें कानपुरसे लिखा कि वर्माजी बहुत बीमार हैं, उनसे मिल लो।

इस पत्रमें नवीनजीने लिखा था. . . "जब भी मैं ब्रजमोहनको देखता हूँ मेरा हृदय उनके लिए उछल पड़ता है। वे एक शिष्ट सज्जन हैं, इतने साहसी और इतने वीर कि उन्होंने कभी हार नहीं मानी, यद्यपि उनके शरीरका एक-एक तार झंझोड़ा जा चुका है और जीवनभरकी लम्बी बीमारियाँ उसे तोड़ती-मरोड़ती रही हैं। ऐसे लोग, जो वस्तुतः इतने सज्जन, सत्य-प्रिय और निर्भय होते हैं, बहुत-ही कम मिलते हैं।"

मैं उस समय टीकमगढ़से भी चालीस-पचास मील दूरीपर था। जल्दीसे लौटकर मैं टीकमगढ़ आया और कानपुरके लिए चल पड़ा। पर कालपी स्टेशनपर ही 'प्रताप'में मुझे वर्माजीके स्वर्गवासका दुःखद समाचार मिल गया। मैं कानपुर शामको पहुँचा, वर्माजी प्रातःकाल ही परलोक सिधार चुके थे। उनके अन्तिम दर्शनोंसे भी मैं वंचित रह गया। इसे मैं अपना घोर दुर्भाग्य मानता हूँ।

दिसम्बर १९४९]

शहीद नारायणदास खरे

"यदि खरेजी जीवित रहे तो आगे चलकर यही बुन्देलखण्डके निर्माता बनेंगे।"

बन्धुवर नारायणदास खरेकी मृत्युके बहुत दिन पहले हमने यह बात अपने अनेक मित्रों तथा सहयोगियोंसे कही थी। ज्यों-ज्यों मैं उनके निकट सम्पर्कमें आता गया, मेरे हृदयमें उनके प्रति श्रद्धा बढ़ती ही गई। खरेजीके चरित्रमें निर्भयता, आत्मत्याग, स्वाभाविकता, वाक्पटुता, परिश्रमशीलता और हास्य प्रवृत्ति आदि अनेक गुणोंका ऐसा सामञ्जस्य-युक्त विकास हुआ था कि वे बड़ी आसानीके साथ बुद्धि-जीवियों तथा श्रम-जीवियोंके स्नेह-भाजन तथा श्रद्धा-पात्र बन जाते थे। अपना मज़ाक़ ख़ुद उड़ानेकी दुर्लभ प्रवृत्ति उनमें विद्यमान थी और साथ ही शिष्यत्वकी भावना भी मौजूद थी। यद्यपि अपने सार्वजनिक भाषणोंमें वे जानबूझ कर अपनी ज़बानपरसे क़ाबू छोड़ देते थे—अधिकारी-वर्गकी कठोर-से-कठोर आलोचना करना उनका प्रिय कार्य था और उसमें वे शिष्टाचारकी सीमाका भी उल्लंघन कर जाते थे—तथापि निजी बातचीतमें उन्हें हमने सदा अत्यन्त सुसंस्कृत ही पाया था।

खरेजीके साथ हमारा कई वर्ष तक घनिष्ट सम्बन्ध रहा। यद्यपि मन-ही-मन हम सदैव उनकी सराहना करते थे, तथापि ऊपरी बातचीतमें उनका मज़ाक़ उड़ाना ही हमने अपना कर्तव्य समझ रखा था! जिस क्रान्तिकारी पथके वे पथिक बन रहे थे, वह हमारी शक्तिके सर्वथा बाहरका था; जिस राजनीति-सरोवरके वे पारंगत थे, हम सदा उस तालाबके दर्शक ही रहे हैं और हमारी आराम-तलबी तथा उनकी कष्ट-सहिष्णुतामें तो ज़मीन-आसमानका अन्तर था ही।

भगवान् वेदव्यासने भारतके विदुलोपाख्यानमें विदुलाके द्वारा उसके

पुत्रको जो उत्तेजक उपदेश दिलवाया था उसे खरेजीने सुना था या नहीं, यह हमें ज्ञात नहीं, पर वे अपना आचरण उसीके अनुसार बना रहे थे। "बेटा, क्षणभरके लिये तेंदूकी लकड़ीकी तरह जलो, भुसकी तरह धुँधुआते क्यों हो?"

"अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः।"

यह आशंका हमें अवश्य थी कि अपनी हथेली पर जान लिये हुए यह तेजस्वी नवयुवक कभी भी अपने प्राणोंको न्यौछावर कर सकता है, फिर भी मनमें हम यही आशा रखे हुए थे कि भावी बुन्देलखण्डमें बड़े-से-बड़ा रचनात्मक कार्य खरेजीके द्वारा ही हो सकेगा।

अपने आत्म-बलिदान द्वारा वे जिस सर्वोच्च पदको पहुँच गये हैं, उसकी कल्पना करके आज हमें अपने उन तमाम भौंड़े तथा भद्दे मज़ाक़ों पर आत्म-ग्लानि हो रही है और अपनी इस श्रद्धाञ्जलिको हम प्रायश्चित्त स्वरूप ही मानते हैं। उनकी स्वर्गीय आत्माके प्रति हम नतमस्तक तथा क्षमा-प्रार्थी हैं।

जब कभी खरेजी हमें मिलते, हम छटते ही यह कहते—"भई खरे! तुम पॉलिटिकल सत्संगी हो! तुम्हारी गर्दनकी रस्सी तो मोलोटोवके हाथमें है और दिल्लगीकी बात यह है कि तुम अपनेको स्वतन्त्र समझ बैठे हो!"

खरेजी हमारे इस व्यंगके उत्तरमें खिल-खिलाकर हँस पड़ते। वे हमारे बुर्जुआई रहन-सहन तथा राजाश्रित अराजकवादसे ख़ूब परिचित थे, पर उन्होंने हमारे मज़ाकोंको सदा सद्भावनासे ही ग्रहण किया और हमारे कटाक्षोंका उन्होंने कभी भी कठोर उत्तर नहीं दिया।

एक दिन तो मज़ाक़-मज़ाक़में हमने कैस्टर ऑइल (अंडीके तेल) की बोतल खरेजीके सामने मेज़पर रख दी। खरेजीने कहा—"आज चाय नहीं मिलेगी क्या? और यह क्या दवा है?"

मैंने कहा—"बस आज तुम्हें तुम्हारे राजनैतिक रोगकी यह औषधि पिलाई जायगी ! अच्छा डोज़ दिया जायगा। मुसोलिनी अपने राजनैतिक विरोधियोंको अंडीका तेल पिला-पिलाकर कमज़ोर कर देता था। बस अब उसीका हम भी अनुकरण करेंगे !"

खरेजी खूब हँसे और फिर बोले—"पहले हमारा क़सूर तो बतला दिया जाय, फिर हम खुशीसे यह भी पीलेंगे।"हमने कहा—"क़सूर-वसूर हम कुछ नहीं बतलाते। देखते नहीं, गाँववालोंको मिट्टीका तेल मिलनेमें कितनी तक़लीफ़ होती है ? बेचारे दस-दस मीलसे पैदल चलकर आते हैं, तब आधी बोतल दी जाती है ! और कभी नहीं भी मिलती ! तुम आन्दोलन करो और उन्हें तेल दिलवाओ।"

खरेजीने कहा—"तो बस, इतनी-सी बातपर आप उस हत्यारे फैसिस्ट मुसोलिनीके अनुयायी बनने जा रहे हैं ? तेलका प्रबन्ध हम करेंगे।"

हमने कहा—"अच्छा, आज तुम्हें माफ़ किया जाता है।"

तत्पश्चात् चाय आई। खरेजीको चायके साथ फूलबरी—चावलकी बनी हुई और तली हुई—बहुत प्रिय थीं और जब कभी वे पधारते, बड़ी बेतकल्लुफीके साथ फूलबरी बनवानेका आग्रह करते ! घरके बालबच्चोंके साथ हिलमिल जाना खरेजीके लिए बड़ा आसान था।

एक दिन हमने कहा—"तुम कम्युनिस्ट लोग बस लैक्चर देना ही जानते हो ! हम तो तब जानें जब हमारे वीराश्रममें आकर घास छीलो !"

दूसरे दिन हमने देखा कि घास छिली हुई है ! खरेजी कहींसे हँसिया माँग लाये थे और खूब परिश्रम करके उन्होंने घास छील दी थी। जब मैंने उनके चेहरेपर कुछ थकान-सी देखी तो पूछा—"आज कुछ चेहरा उतरा हुआ-सा क्यों है ?" खरेजीने मुसकराते हुए कहा—

"वैसे ही ! कोई खास बात नहीं है !"

मैंने फिर आग्रह किया तो बोले—"आपसे क्या छिपाऊँ ? महीनोंसे

जुनरी खा रहे हैं । कल वह भी बहुत ख़राब मिली। पेटमें बहुत दर्द रहा। कोई फ़िक्र नहीं, अपने आप ठीक हो जायगा।"

मुझे अपनेपर—अपने गेहूँ खानेपर—बड़ी ग्लानि हुई। जब बुन्देल-खण्डके सर्वोत्तम कार्यकर्त्ताको गेहूँ नहीं मिलते तब हम लोगोंकी—जो दूसरे प्रान्तके हैं—उच्चकोटिका रहन-सहन एक भयंकर अपराध था—अक्षम्य विचार-हीनता।

कई वर्ष पहले हमने उन्हें अछूत विद्यालयमें आठ-नौ रुपये महीनेपर शिक्षकके तौरपर नियुक्त कर दिया था। एक दिन कुण्डेश्वरके मेलेके अवसरपर हम टहलके बाहरसे लौटे तो क्या देखते हैं कि घरके भीतर चबूतरेपर अपने छात्रों—मेहतरोंके बच्चों—के साथ बैठे हुए खरेजी कोदोंकी रूखी रोटी खा रहे हैं! मैंने कहा—"यह क्या बात है ? क्या हम आपके भोजनका प्रबन्ध नहीं कर सकते थे ?"

खरेजीने उत्तर दिया—"सो तो ठीक है, पर हमें तो सदा इन्हींके साथ रहना है और इन्हींके बीच इन्हींका भोजन करना है। एक-दो दिनकी बात तो है नहीं, हमने अपना सिद्धांत बना लिया है कि जिनकी सेवा करना, उन्हीके बीच उन्हीं जैसा खाना खाना!" खरेजीके लिये यह कोरमकोर सिद्धान्त नहीं था। वे तदनुसार आचरण भी करते थे। एक बार शामके वक्त हमारे पासके ग्राममें प्रचारार्थ आये। हमारा अनुमान था कि घंटे-दो घंटे बाद लौटकर वे ब्यालू हमारे यहाँ ही करेंगे और तदर्थ हमने प्रबन्ध भी कर लिया था, पर खरेजी रातभर वही रहे! पीछे पता लगा कि किसी अछूत भाईके यहाँ, जो जातिसे पतित था, उन्होंने स्वयं माँगकर भोजन किया था! प्रातःकालमें हमने शिकायत की तो बोले—"जिनके बीच काम करना—उन्हींका भोजन करना—वही हमारे लिए अमृत है"।

एक दिन जब कि ओरछा राज्यमें मन्त्रि-मंडलके निर्माणकी बातें चल रही थीं, और यह भी चर्चा थी कि कम्यूनिस्ट पार्टीकी ओरसे भी

एक आदमी ले लिया जायगा, हमने खरेजीसे पूछा—"खरेजी, अगर तुमसे कहा जाय कि मंत्री बन जाओ, तो क्या करोगे ?"

खरेजीने कहा—"मंत्री-फंत्री बनना हमारा काम नहीं। हम तो किसी अन्य विश्वासपात्र व्यक्तिको बनानेके पक्षमें हैं।"

हमने फिर कहा—"यह तो हमारे सवालका जवाब नहीं हुआ। हम तो पूछते हैं कि अगर तुम्हीं मंत्री बना दिये जाओ तो क्या करोगे ?"

खरेजी बोले—"तो सुन लीजिये, पहला काम हम यह करेंगे कि अपनी तनख्वाहपर तुलसीदल रख देंगे। फिर मेहतरोंके पास जाकर कहेंगे कि भैया दो-दो पैसे महीने सब हमारे लिये जमा करो और किसानोंसे जुनरी, दाल लेंगे और मज़दूरोंसे जेब-ख़र्च।" फिर मैंने पूछा अपने वेतन मेंसे अपनी पार्टीको कुछ नहीं दोगे ? खरेजीने कहा—"नहीं, एक कौड़ी भी नहीं। अभी अपनी पार्टीकी सरकार हम थोड़े ही बना रहे हैं।"

खरेजीमें पदलोलुपता नामो-निशानको नहीं थी। मंत्रित्वके लिए लालायित एक सज्जनसे उन्होंने कहा था—"हम लोगोंको पदोंके चक्करसे बचना चाहिए। सुयोग्य व्यक्तियोंको भेजकर उनसे अपने द्वारा निर्धारित नीतिसे काम लेना चाहिए और उनके नित्यप्रतिके शासन कार्यमें दखल भी न देना चाहिए।"

पर खतरेके मामलोंमें खरेजी सबसे आगे रहते थे। वक्तपर उन्हें खूब सूझती थी—वे प्रत्युत्पन्नमति थे। एक रियासती कार्यकर्त्ताने हमें सुनाया:—

"सन् १९४२ के आन्दोलनकी बात है। हम अमुक स्थानपर एक अधबना बम रूमालमें लपेटे चले जा रहे थे कि हमें यह आशंका हुई कि कहीं ख़ुफ़िया पुलिस हमारा पीछा तो नहीं कर रही है ! इतनेमें खरेजी हमें दीख पड़े। हमने उनसे कहा कि हम आफ़तमें फँसने ही वाले हैं ! पुलिस हमारा पीछा कर रही है ! खरेजीने कहा "कोई फिक्रकी बात

नहीं। चलो पास ही एक वैद्यजीका मकान है, वे कहीं बाहर गये हैं। उसीमें घुस चलें ?"

हम लोगोंने यही किया। फिर खरेजीने दरवाज़ा बन्द करते हुए कहा, "मैं यहाँ दरवाजे पर खड़ा हूँ। तुम तबतक अपनी चीज़को दवाइयोंके उस बोरेमें सबसे नीचेकी ओर एक कोनेमें पिनसे लगाकर रख दो, इस ढंगसे कि बोरेको झाड़ते वक्त वह गिर न पड़े! बस देर मत करो। पुलिस पहले मुझे पकड़ेगी, उसमें कुछ मिनट तो लग ही जायेंगे। उसके बाद वह तुम्हारे पास पहुँचेगी।"मैंने यही किया था कि इतनेमें दरवाज़ेपर पुलिस आ पहुँची! खरेजी पहले गिरफ्तार हुए। इसके बाद पुलिसने मेरे पास आकर पूछा—"इस बोरेमें क्या है?" मैंने उत्तर दिया—"वैद्य जीका घर है। इसमें दवाइयाँ होंगी।" हुक्म मिला—"इसे झाड़ो" तदनुसार कोना पकड़कर मैंने तमाम दवाइयाँ एक साथ उलट दीं! पुलिस वाले बोले—"समेटो-समेटो, इन्हें!" मैंने कहा—"मैंने तो साहब पहले ही बतला दिया था"। सारी औषधियाँ जो तितर-बितर हो गई थी, मैंने फिरसे भर दीं और मेरा वह विस्फोटक-पदार्थ नीचे ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहा!"

एक बार खरे जी किसी रियासती आन्दोलनसे लौटे तो मैंने पूछा–"भई खरे! तुमने अपनी पार्टीसे भी पूछा था कि इस आन्दोलनके बारेमें पार्टी का क्या मत है? कि यों ही अललटप्पू चाहे जिस आन्दोलनमें कूद पड़ते हो?"

खरेजीने कहा—"इतना वक्त ही कहाँ था? ऐसे मौक़ेपर तो तुरन्त निर्णय करना पड़ता है। पीड़ित जनताको जिससे बल मिले, बस वही अपना लक्ष्य है। ऐसे अवसरोंपर पार्टीके फैसलेकी प्रतीक्षा न करके मैं आपकी विकेन्द्रीकरणकी नीतिका अनुयायी बन जाता हूँ!"

खरेजीका यह व्यंग मेरे विकेन्द्रीकरणके सिद्धान्तपर था, जिसकी चर्चा मैं उनसे मौक़े-बे-मौक़े किया करता था!

खरेजी राजनैतिक-क्षेत्रकी गतिविधिसे परिचित थे और कोरमकोर सिद्धांन्तोंको ताक़में रखकर वे व्यवहार-बुद्धिसे काम लेते थे।

खरेजीको डाट-फटकार बतलाना हमने अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया था। एक दिन हमने उनसे कहा—"तुम लोग कुछ नहीं करते! तीन-तीन वर्षसे वीराश्रमकी रजिस्ट्री भी नहीं करा पाये। वीराश्रम तुम्हारा ही तो है। उसमें तुम्हें कुटी बनानी है—नारायण-कुटीर, समझे?"

खरेजी ख़ूब हँसे—"तब ठीक है। अभी हम प्रबन्ध करते है। दूसरोंसे आप कहते रहे। हमें क्यों हुक्म नहीं दिया? अब तक यह काम कभीका हो गया होता।"

इसके बाद ही खरेजीको यकायक झाँसीके लिए भागना पड़ा। वहाँ पहुँचकर पहला कार्ड, जो उन्होंने भेजा, उसमें वीराश्रमके लिए चिन्ता प्रकट की थी! वहाँसे लौटकर वे अपने मित्र पन्नालालजी वकीलको मेरे पास ले आये और सारा मसौदा तैयार कराया! ट्रस्टी लोगोंमें हमने खरेजीका नाम भी रक्खा था। उन्होंने हमारे आग्रह पर इसे स्वीकार भी कर लिया था।

दुर्भाग्यकी बात है कि खरेजीके सिवाय और किसीने वीराश्रमकी विशेष चिन्ता नहीं की और वह नारायण-कुटीरका स्वप्न अधूरा ही रह गया! भला अब कौन उसे पूरा करेगा?

× × ×

२७ नवम्बरकी बात है। शामका वक़्त था। खरेजी कुण्डेश्वर पधारे। उस वक्त उन्हें जुकाम था। नियमानुसार चाय तैयार हुई और उनकी प्रिय फूलबरी भी! चाय मैं एक बार पी चुका था। फिर एक प्याला उनके साथ भी ले लिया। दिमाग़की खुश्कीमें अंट-संट बकना और दूसरेकी न सुनकर अपनी कहे जाना, दिग्विजयका यह अनुभूत-प्रयोग वर्षोंसे हमारे हाथ लग चुका है! अपने स्वभावानुसार एक लेक्चर खरेजीको चायके साथ ही पिला दिया!

मैंने कहा--"खरेजी ! तुम्हारा ये आन्दोलन बिल्कुल व्यर्थ है--फ़ालतू है !"

खरेजीने पूछा--"क्यों ?"

मैंने कहा--"हमारे ब्रजमें एक कहावत है--'जितनौ घी डारौगे उतनौई मौइन होइगो' । तुम लोगोंमेंसे स्वतन्त्रताकी बलिवेदी पर एक भी आदमी तो बलिदान नहीं हुआ ! तुम सस्ती चीज़ चाहते हो--जापानी दियासलाईकी तरह ! बिल्कुल सस्ती ! यों कहीं उत्तरदायी-शासन मिला है ?"

इस बार खरेजी कुछ गम्भीर हो गये और बोले--"दादाजी ! आज आपने ठीक बात कई है ! भौत पतेकी। पै ई बात खौं इतने दिननसें मनमें काय छिपा राखी थी ! जा सोऊ हम पूरी करें। देखत जाव आप तो। बलिदान सोऊ होइऐ।"

खरेजीकी आँखोंमें अद्‌भुत तेजस्विता थी और स्वरमें पूर्ण दृढ़ता। उससे मैं चकित रह गया और अपने अनाधिकार-पूर्ण व्यंगपर लज्जित होकर मैंने उस प्रसंगको ही बदलते हुए कहा:--

"खरेजी, तुम्हें ज़ुकाम है। बुख़ारका डर है। महीने-भर यहाँ--हमारे पास रहो। अभी न जाओ।" खरेजीने कहा-----"अभी तो मोर्चे पर जाना ही है। लौटकर महीनेभर रहनेकी पक्की रही।"

खरेजी चले गये और ऐसी जगह चले गये, जहाँ से लौटकर कोई नही आया !

× × ×

"खरेजीकी तस्वीर आ गई, तस्वीर आ गई !" डाकख़ानेमें जब 'जनयुग' का अंक आया तो छोटे-छोटे बच्चे चिल्लाने लगे ! मानों वे खरेजीके वात्सल्यभावका प्रमाण दे रहे थे !

उनके बिखरे बालवाले चित्रको देखा तो हमारे नेत्र सजल हो गये--यह थी एक सिद्धान्तहीन बुद्धिजीवीकी शिष्टाचार-युक्त श्रद्धांजलि !

और 'विन्ध्यवाणी' सम्पादक प्रेमनारायणजी कई दिन तक भूखे-प्यासे उनकी लाशकी तलाशमें घूमते रहे ! राजनैतिक-क्षेत्रके साथीका यह वियोग था।

पर खरेजीको सर्वोच्च प्रमाणपत्र एक ग़रीब मेहतरानीने दिया, जब उसने आँखोंमें आँसू भरकर एक महिलासे पूछा—"कछू उनको पतौ चलौ ? हमारे घर आउत्ते तो जबरई रोटी माँगकें खात्ते। 'जीजी ! तुमने का बनाऔ खाऔ तो।' काय कछू उनकौ पतौ परौ ? कबनौं आँयें ?"

यह थी एक श्रमजीवीकी सच्ची चिन्ता—उसका हार्दिक उद्गार—खरेजीके लिए सबसे बड़ा सार्टीफिकेट। खरेजी उन्हींके लिए जीवित रहे, उन्हींके लिए शहीद हुए !

स्वर्गीय देवीदयालु गुप्त

२६-१२-'४६

कुण्डेश्वरसे हम दोनों टीकमगढ़की ओर चले जा रहे थे--कविवर देवीदयालुजी गुप्त और मैं। कविजी अपने घर लौट रहे थे। मैं यों ही पूछ बैठा--"आपके घरपर कौन-कौन हैं ?"

गुप्तजीने कहा--"मैं, मेरी पत्नी और एक चार वर्षकी लड़की मानकुँवरि। एक लड़की और भी थी, पर वह ग्यारह वर्षकी होकर मर गई ! उसका नाम था सरीं।"

मैंने पूछा--"कैसे मर गई ? कुछ बीमार थी क्या ?"

गुप्तजीने कहा--"बीमार क्या थी, वह तो भूखों मर गई ! मैं अभागा उसे अन्न भी नहीं दे सका और वह दिन-पर-दिन निर्बल होती गई।" और उनके नेत्र सजल थे। मेरे हृदयको धक्का लगा और अधिक सहानुभूतिके साथ मैंने उनका शेष वृत्तान्त सुना--

"जब घरमें अनाजका दाना न रहा और कई-कई फ़ाक़े होने लगे, तो मैं अपने एक रिश्तेदारके यहाँ बाल-बच्चोंको पहुँचा आया, इस उम्मीदसे कि उन्हें वहाँ खाना तो मिल ही जायगा। यद्यपि इस प्रकार बिना बुलाए जाना मेरे लिए बड़े शर्मकी बात थी; पर क्या करता, कोई चारा न था। सरीं मेरी लड़कीका देहान्त वहींपर हो गया, और यद्यपि मैं वहाँसे १०-१२ मीलकी दूरीपर ही था, तथापि मुझे सूचना दी गई दस दिन बाद ! मैं ग़रीब जो था, इसलिए मुझे ख़बर भेजने तककी भी ज़रूरत नहीं समझी गई ! मेरी पत्नी सरींकी एक बात याद कर-करके अक्सर रोया करती है और उसके साथ मैं भी रोता हूँ।...."

देवीदयालुजी संकोचवश कुछ रुके। मैंने कहा--"आप निस्संकोच वह बात सुना दीजिए।"

वे कहने लगे--"एक दिन ग्रामकी एक बुढ़ियाने आकर सरीसे पूछा--'बिटिया, तुम उपतिकें (बिना बुलाए खुद ही) क्यों चली आईं ? इससे तो बड़ी बदनामी होती है ।' बड़े भोलेपनके साथ उस लड़कीने उत्तरमें बस इतना ही कहा था--'अजा (दादीजी), हमारे घर खानेको अन्न नहीं था, सो चले आये ।' "

देवीदयालुजीकी आँखोंसे टप-टप आँसू गिर रहे थे । कुछ देर बाद वे बोले--"मै भी कैसा अभागा हूँ कि अपनी पुत्रीको अन्न भी न दे सका ! उस बातचीतके तीन-चार दिन बाद वह बेचारी मर ही गई । अन्तिम समय मैं उससे मिल भी न सका ।"

मैंने भाई देवीदयालुजीको ढाँढ़स बँधाते हुए कहा--"मृत्युको भला कौन रोक सकता है ? इसमें आपका क्या क़ुसूर है ?" पर यह सब शिष्टाचारकी बातें थीं । हम लोग एक मील निकल आये थे । मैंने कहा--"गुप्तजी, आप अपनी छोटी पुत्री मानकुँवरिको मेरा आशीष कहना । कभी-न-कभी उसे देखनेके लिए मैं ज़रूर आऊँगा ।"

देवीदयालुजीके चेहरेका भाव कुछ बदला और वे बोले--"आप भला वहाँ क्यों आने लगे ! मानकुँवरि चार वर्षकी है, वह मेरे पहुँचते ही पाँवोंसे लिपट जायगी ।"

मैंने कहा--"आप विश्वास तो कीजिए । मुझे एक बार आपकी ओर आना ही है ।"

देवीदयालुजीने अपनी नोटबुकसे निकालकर एक कविता पढ़ी, जिसका आशय यह था कि उनकी एक पुस्तक अवश्य छपा दी जाय :

"कृपा करिए दीनपर चौबेजी तत्काल ।
एक किताब छपाइए केवल यही सवाल ।।
केवल यही सवाल वचन मुझको देदीजे ।
होवे मनको धीर सुयश जगमें ले लीजे ।।

कह देवी कविराय हृदयकी विपदा हरिए ।
नहीं और अवलम्ब कृपानिधि किरपा करिए ॥"

मैंने कहा—"एक नहीं, आपकी दो किताबें छपेंगी । चूंकि मेरे नगर फ़ीरोज़ाबादमें ही आप लूट लिये गये थे, इसलिए उसकी नैतिक ज़िम्मेदारी मुझपर है, सो एक किताब तो फ़ीरोज़ाबादवाले छपा देंगे और दूसरी आपके भक्त और प्रेमी ।"

देवीदयालुजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"दो न सही, एक तो छप ही जाय ।"

मुझे कुछ हँसी आ गई और मैंने कहा—"आप सन्तोषसे घर पधारिए, मैं वचन देता हूँ ।"

देवीदयालुजी चले गये ,और मैं यही सोचता रहा कि आत्म-प्रकटीकरण लेखक और कविके लिए कितना अधिक आवश्यक है ।

× × ×

१७-१-'४७

भाई नारायणसिंह परिहारका कार्ड मिला—"क्या लिखूं और कैसे लिखूं ! फिर भी लिखनेका दुस्साहस कर रहा हूँ और वह यों कि आपके पाससे आकर श्री देवीदयालुजी घर पहुँचते ही निमोनियासे पीड़ित हो गये । मुझे उनके आने तथा बीमार होनेका एक चलता हुआ सन्देश मिला कि फ़ौरन जाकर देखा, तो ज्ञात हुआ कि हालत पिछले नौ दिनसे ख़राब है । फिर भी चेष्टा की, किन्तु बेकार हुई और वह गत बुधवारको स्वर्गवासी हो गये ।—पुनश्चः—कविराजकी शय्यापर सिरहाने एक कविता धरी मिली । बीमारीकी हालतमें कब लिख ली, कह नहीं सकता, किन्तु उनकी आन्तरिक अभिलाषा स्पष्ट है । अतएव सेवामें प्रस्तुत कर प्रार्थी हूँ कि आत्मिक शान्ति-हेतु उनकी इच्छा पूर्ण करनी ही चाहिए । भले ही हिन्दीजगत् न अपनाये, पर मित्र-जगत् तो अपनायेगा ही । वह कविता यह है :

श्री चतुर्वेदीजीसे प्रार्थना

जैसी अबै लौं कृपा करी दीन पै,
या से भविष्यमें दूनी बतइयो।
जो अपराध भये मुझ पै इतै,
ताकी हू भूल न चित्तमें लइयो।
औगुन कौ हदयौ तो कहावत,
आप बड़े करुणा को दिखइयो।
आशा मेरी कर दीजियो पूरन,
एक किताब अवश्य छपइयो।"

कार्ड पढ़कर सिर चकरा गया। भाई देवीदयालुजीकी एक-एक बात याद आने लगी। एक बार वे तीन दिन तक साथ रहे थे, दूसरी बार दस-बारह दिन और तीसरी बार भी पाँच-सात दिन तक उनके सत्संग-का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था।

देवीदयालुजी पढ़े-लिखे नाम-मात्रको ही थे; पर कविताकी बीमारी उन्हें बाल्यावस्थामें ही लग गई थी। अपना परिचय वे इस प्रकार देते थे—

"पुत्र वासुदेवका बुंदेलखण्ड-वासी व्यक्ति,
जन्मभूमि ढेरी ग्राम वैश्य-वंशबोरा हूँ।
केवल उपासक हूँ सिंहवाहिनीका सदा,
दाहिनी है किंकर पै भक्ति-भाव कोरा हूँ॥
सुजन समाजसे सनेह सरसाता सदा,
किन्तु गर्वशालियोंका गर्वमुखमोरा हूँ।
देवी कवि-कोविद-कृपाका अभिलाषी बड़ा
कविता-कलाका अनभिज्ञ तुकजोरा हूँ॥"

जब सितम्बर, १९४५में वे हमारे साथ दस-बारह दिन रहे थे, मैंने एक दिन उनसे कहा—"आप कहीं नौकरी क्यों नहीं कर लेते?"

उन्होंने उत्तर दिया था––"मेरे-जैसे बेपढ़ेको नौकरी देगा कौन ?"

मैंने कहा––"कविता तो आप अच्छी कर लेते हैं ।"

उन्होंने उत्तर दिया––"ये तो 'प्राकृतिक दृश्य' हैं। सचमुच मैं बिल्कुल नहीं पढ़ा ।"

'प्राकृतिक दृश्य'पर मुझे हँसी आ गई । गुप्तजी शायद यह कहना चाहते थे कि कविता करना उनका सहज स्वाभाविक गुण है; पर उसके बजाय वे उसे 'प्राकृतिक दृश्य' कहते थे। हम लोगोंने उनका नाम 'प्राकृतिक दृश्य' ही रख छोड़ा था । जब देवीदयालुजी बहुत छोटे थे, उनके पिताजीने एक बार उनसे पड़ोससे नमक मँगवाया । आपने घूम-घामकर यह उत्तर दिया :

"चतुरे कौ तारौ लगौ पंगे करत दतौन ।
दद्दा तें मौंड़ी कहै घरमें नैंयाँ नौन ।।"

देवीदयालुजीके पिता श्रीयुत वासुदेवजीके सात पुत्र हुए । प्रथम पत्नीसे श्री गंगाप्रसादजी और द्वितीयसे सर्वश्री बनवारीलाल, मिट्ठूलाल, सिट्ठूलाल, बच्चीलाल, मन्नीलाल, मंगलीलाल और देवीदयालु । पिताजी अनाजका व्यवसाय करते थे, और देवीदयालुजीके अन्य भाइयोंने भी पैतृक व्यवसायको ही ग्रहण किया; पर देवीदयालुजीको बाल्यावस्थासे ही कविताकी बीमारी लग गई । पिताजीको पुस्तक-संग्रह करनेका शौक़ था और स्वयं पढ़ते भी ख़ूब थे । निकटवर्त्ती ग्रामोंमें उनके पुस्तक-ज्ञानकी धूम थी । ग्रामीण पंडित उनसे घबराते थे, क्योंकि वे पंडितोंकी भूल निकाल देते थे, यद्यपि थे वे बड़े निरभिमानी । इस प्रकार साहित्य-प्रेमका रोग देवीदयालुजीको पैतृक ही था । अन्य भाई लोग व्यापार करके गुज़र-बसर कर लेते हैं, पर देवीदयालुजी बिल्कुल पंगु ही बन गये । उन्हींके शब्दोंमें सुन लीजिए––

"मेरे पिताजीने सन् '४२के द्वितीय ज्येष्ठमें अमरपुरकी यात्रा की । मैंने अत्यधिक क्रन्दन किया, परन्तु होता क्या ! इसके बाद सब भाई

पृथक-पृथक हो गए और अपनी-अपनी दुकानदारी करने लगे। मैं नराधम हाथ मलते रह गया; क्योंकि मेरे पास एक छदाम भी नहीं था। हाँ, श्रीमतीजीके पास कुछ चाँदीकी चीज़ें थीं, वही परमाधार थीं। अब तो मेरे ऊपर विपत्तिके बादल गरजने लगे; क्योंकि श्रीमतीजी अनाज तथा ख़र्च आदिके लिए वाग्वाण मारने लगीं। मैंने तुक्कड़बाज़ी प्रारम्भ कर दी और राजा-रईसोंके पास जा-जाकर उनकी प्रशंसाकी रेल चलाई। तब भी पेट अधूरा बना रहा। एक बार मैं समथरके प्रधान-मन्त्री ठाकुर सुजान-सिंहजीके पास गया, तो मैंने अपनी आर्थिक स्थितिका सांगोपांग वर्णन किया और चार-छैः कवित्त उनकी तारीफ़में सुनाये। आपने द्रवित होकर वर्त्तमान श्रीमान् महाराजा साहबसे कहकर सात रुपये मासिकपर ढेरीमें मास्टर नियुक्त करा दिया। मैंने एक वर्षके क़रीब छात्रों को पढ़ाया। शिक्षा-विभागके इन्स्पेक्टर पं० किशोरप्रसादजी लड़कोंकी परीक्षार्थ आये। आपने सरकारी कोठीपर छात्रोंको बुलाकर परीक्षा ली। लड़के विफलतादेवीकी शरण हुए। मुझसे उत्तर माँगा गया, तो मैंने स्पष्टतः कह दिया कि "मैं कौन अँगरेज़ी विधानसे पढ़ा हूँ?" फिर क्या विलम्ब था? जीविका-गायको सिंहने यमालय भेज दिया। अब मैं निराश्रय होकर श्वानवत् फिरने लगा। जो-कुछ पैतृक सम्पत्ति थी, वह गिरवी रख गई। उसे मैं अभी तक नहीं उठा सका। उठाऊँ कहाँसे? 'नौ खाऊँ और तेराकी भूख' कहावत चरितार्थ हो रही है। दो माहके क़रीब हुए, तब मैं श्रीमतीजीकी पैरकी गूजरी और गाँगरा गिरवी रखकर २२ रु०में फ़ीरोज़ाबाद कामकी तलाशमें गया था। वहाँ एक...पाल नामका व्यक्ति ज़िला एटा गाँव कलूचा नगलाका ६० रु०के बिस्तर, कपड़े आदि चोरी ले गया। मैं तथा एक साथी दोनों आदमी फ़ीरोज़ाबादसे लँगोटी लगाकर भूखों मरकर घर आये। घर आते ही भीषण कोलाहलकी दुन्दुभी बजने लगी। मैं आठ रोज़का भूखा था, परन्तु श्रीमतीजीने न तो आटा दिया और न रोटी बनाकर खिलाई। मैं तो भूखसे मरा जाता

था। तब मैंने श्रीमतीजीकी अच्छी तरह ताड़ना की। अब प्रतिवासी इकट्ठे हुए और अन्य भाई रोना सुनकर दौड़ आये। मुझे पकड़ लिया। मैं द्वारे निकल आया। अब भारी भीड़ हो गई। मेरी विरदावली प्रारम्भ हुई। भीतरसे श्रीमतीजी रोकर बोलने लगीं कि इन्होंने घर सत्यानाश कर दिया। छोटी बच्ची अनाथकी तरह भूख-भूख चिल्ला रही है और ये फ़ीरोज़ाबादसे बिस्तर खोकर बाबाजी बनकर आ गये हैं! अभी तीन चीज़ें गिरवी रखी हैं। पीतलका गगरा, जैजम, गूजरी। तीनों चीज़ोंके मय ब्याजके ३४ रु० या ३५ रु० बैठते हैं। जब आठ या नौ रोज़में यह कलह-पुरान श्रीमतीजीने बन्द किया, तब मैंने कहा कि मैं टीकमगढ़ जाना चाहता हूँ। तुम्हारी क्या सलाह है? तब उन्होंने कहा, "फ़ीरोज़ाबाद-जैसे लँगोटी लगाकर न आ जाना। मैंने कहा, कि "जगदाधार रक्षक है। तब उन्होंने आँखोंमें आँसू डबडबाकर बक्ससे निकाल गूजरी मुझे दे दी। मैं उसे गिरवी रखकर टीकमगढ़ चला आया। भविष्य कर्म दैवाधीन।"

देवीदयालुजीकी कविता

एक बार समथर-नरेश उनके ग्राम ढेरीमें पधारे थे। उस घटनाका वर्णन देवीदयालुजीने इस प्रकार किया है :—

"ढेरीमें आना हुआ जब आपका,
भारी कृपाकर मोहि बुलाया।
हुक्म दिया तत्काल दयालु हो,
लाओ बनाकर छन्द सुहाया।
तेल उधार मँगाया था रातको,
डालके बाती सुदीप जगाया।
नींद भुलाई करी कविता भली,
पाई न पाई है नाम कटाया!"

— २ —

"हुक्म तरक्क़ीका दिया काटा नाम नरेश ;
आई जौलाई जभी जौ लाई सन्देश !"

— ३ —

"जाती जब आजीविका तब उर धरै न धीर ;
देवी बाँझ न जानती प्रसव-कालकी पीर।"

वास्तवमें देवीदयालुजीकी नौकरीका छूटना चार प्राणियोंके कुटुम्बके लिए महान् दुर्घटना थी। जब वे इस घटनाको सुनाते तो मुस्कराते जाते थे; पर उनकी उस मुस्कराहटके पीछे घोर हार्दिक वेदना छिपी रहती थी। जब मैंने पूछा कि आपकी, कितनेकी नौकरी थी तो बोले--

"गुज़र गए राजा सभी, अनरथ काहु न कीन।
सात रुपैया की हती गुजर, गुजर[1] लई छीन।"

मैंने देवीदयालुजीसे कहा--"इस कविताको कहीं न छपाना, नहीं तो राजा साहब आपको जेल भेज देंगे !"

उन्होंने बड़े भोलेपनसे कहा--"जेल क्यों भेज देंगे ?"

मैंने कहा--"इसमें आपने उनकी जातिपर व्यंग किया है !"

बेचारे देवीदयालुजी एक हवालातकी सैर कर भी आये थे। उसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है :--

"बाहरका बाबा एक ढेरीमें निवास करे,
मेरे ही मकान बीच डेरा डलवाया है।
रपट लिखाई कोतवालको बताया नाम,
चोरीका लगाया अभियोग दीन पाया है॥
बैठ रहे बन्दी बने भूख मानती ही नहीं
चौकीदार साथ दादा भोजन कराया है।

---

[1]समथर-नरेश गूजर ठाकुर हैं।

होकर अधीर अकुलाया तब रोने लगा
रणदूला वीरपुत्र जाकर छुड़ाया है ।।

इसके बाद देवीदयालुजीने लक्ष्मीजीको बीसियों कहनी-अनकहनी सुनाकर आदेश दिया था :--

जलजा जलेगी जल्द जलेको जलाती है ।
बापकी बहोर डालीं बैरिन कसाइनने,
कसर लगाई नहीं बन्दी बन जाता मैं ।
क़ैदी लोग मार देते आया है नवीन चोर,
हाड़ फूट जाते हाय-हाय डकराता मैं ।
जैन साब[1] पूछते कवीजी कहो चोरी करी,
दीजिए बयान प्राण देहमें न पाता मैं ।
ठाकुर नरानसिंह[2] मर्द जो बचाता नहीं,
सात पैरीं डूब जातीं बेड़ी खनकाता मैं ।

देवीदयालुजीने मानो निश्चय ही कर लिया था, कि प्रत्येक भली-बुरी अनुभूतिको छन्दबद्ध कर दूँगा । उनकी 'कवि-यात्रामें, फ़ीरोज़ाबादमें लूटे जानेका वृत्तान्त अत्यन्त करुणोत्पादक है । संकट-कालमें कविता ही उनकी एकमात्र साथिन थी । भोजनके लाले पड़नेपर जब उनकी पत्नी मायके चली गई, तो आप लिखने लगे :--

"मड़वासे घूम-घूम भाँवरें पड़ी हैं सात ,
साथी न कहाई भगे मायके लुगाई है ।"

एक बार उन्होंने अपनी 'दरिद्रपच्चीसी'के कुछ अंश मुझे सुनाये, तो मैने उनसे यही कहा--"गुप्तजी, माफ़ कीजिए, आप बड़ी असंस्कृत बात लिखते हैं । कहीं अपने घरवालोंकी इस प्रकार निन्दा की जाती

---

[1]स्थानीय मजिस्ट्रेट । [2]स्नेही मित्र और सहायक ।

है ? एक तो आप कुछ कमाई नहीं करते और फिर ऊपरसे इस प्रकारकी कठोर बातें कहते हैं !"

देवीदयालुजी कुछ सहमे और सिर खुजलाते हुए बोले--"पर जो-कुछ मैंने कहा है, वह सत्य है ।"

मैंने उत्तर दिया--"सत्य हो सकता है, पर कहने-कहनेके ढंगमें अन्तर होता है ।"

देवीदयालुजी बोले--"मै कौन अँगरेज़ी विधानसे पढ़ा हूँ । गमार तो हूँ । जैसी बीती, वैसी कह डाली :--

भोजनमें गिनती लगाती नारि रोटियोंकी ,
शेरके समान गरज लोचन दिखाती है ।
एक सेर खाते, न कमाते, कहीं जाते नहीं ,
पेट-भर पाते अलसाते नींद आती है ।
कवितामें बिघ्न डाल देती आन छातीपर ,
मानती न बात रार हाटको लगाती है ।
देवी कवि दारिदजी मास खींच रहे आप ,
नित्य हड़जाई ये कमाई गीत गाती है ।

— २ —

चार बजे प्रात नारि बैठ गई चकिया पै ,
सोर साथ मायकेका सुयश सुनाती है ।
एक चीज़ तेरी नहीं जानती मैं जीवनमें ,
रात-दिन कलह नदीमें नहाती है ।
कोमल कलेजे बीच काकबाणी साल रही ,
ठसक बताती, इतराती, सतराती है ।
देवी कवि दारिदजी हो रही निशंक बड़ी ,
दाँत पीस कुतियासे रंक प्राण खाती है ।"

एक बार बरसातमें आपके मकानका पक्खा गिर गया । बजाय

इसके कि आप उसकी मरम्मतका कुछ इन्तज़ाम करते, उसपर तुकबन्दी करने बैठ गये :--

"बदरा बद बरसौ बहुत, बासव बैर बिसाय ;
गुंजरौ गजब गरीबपर पक्खा दियौ गिराय ।"

जब आप नहरके बँगलेपर चपरासी नियुक्त हो गये, तो वहाँ भी कविता लिख-लिखकर ओवरसियर साहबको सुनाया करते थे । उनके दुर्भाग्यसे दूसरा ओवरसियर आ गया, जिसे कवितासे कुछ भी प्रेम नहीं था और देवीदयालुजीको 'दाद'के बजाय 'फटकार' ही पुरस्कारमें मिली ।

जब देवीदयालुजी हमारे पास १०-१२ दिनके लिए रहे थे, हमने यह विचार किया था कि उनसे कुछ लिखा-पढ़ीका काम लेंगे । पर इसमें हमें निराश होना पड़ा । आप कुण्डके जल-प्रपातकी ओर टहलने गये, तो वहाँ बैठकर कविता लिखने लगे ! जब देरमें लौटे, तो मैंने पूछा-- "आज कहाँ रह गये ?"

उत्तरमें आपने 'कुण्डेश्वर'का चित्र-काव्य' सुना दिया--

"झर-झर झरना झर रहा करता कलित-किलोल ।
उषा और अनिरुद्धका बजा रहा यश ढोल ।।

× × × ×

भावनाकी ऊषा आज आती पूजनेको उमा ,
प्रेम-माल गूँथ-गूँथ मुदित चढ़ाती है ।
हेर-हेर फेर-फेर हिय हरसाती महा ,
लेती बलिहारी करतारीको बजाती है ।

'कुण्डेश्वर तीर्थ माना जाता है और यह किम्बदन्ती प्रसिद्ध है कि यहाँपर शिव-पार्वतीकी पूजा करनेके लिए 'उषा' आया करती थी ।

हृदय सिहाती दीन करुणा सुनाती खड़ी ,
होकर विदेह ध्यान ग्रासन लगाती है ।
देवी कवि तेरी-सी उदारता न देखी कहीं ,
चढ़ा बेलपाती वर पाती वर पाती है ।

देवीदयालुजीने पूरी कविता सुना दी । मैंने समझ लिया कि मर्ज़ लाइलाज है ग्रौर मुझे कुछ हँसी ग्रा गई । गुप्तजीको कुछ शंका हुई ग्रौर पूछा--"क्यों, मेरे पद्योंमें क्या कुछ ग्रशुद्धि हो गई है, या भाव ठीक नहीं प्रकट हुए ?"

मैंने कहा--"नहीं, ग्रापकी कविता तो बढ़िया है, भाव भी सुन्दर हैं; पर मैं एक दूसरी ही बात सोच रहा था--एक रोगके विषयमें ।" गुप्तजी कुछ चौंके । मैंने कहा--"मुझे छाजनकी बीमारी है ग्रौर ग्रापको कविताका रोग लग गया है, ग्रौर दोनों ग्रसाध्य हैं । थोड़ी देरके लिए ये भले ही दब जायें, फिर बार-बार उछर ग्राते हैं ।"

देवीदयालुजी हँसने लगे ग्रौर बोले--"तो ग्रब कोई इलाज भी बताइए ।"

मैंने कहा--"कविताकी बीमारीका कोई इलाज सुश्रुत ग्रौर चरकमें भी नहीं । यह तो ज़िन्दगी-भरके लिए समझ लीजिए । इसे भुगतना ही पड़ेगा । ग्रब ग्राप एक काम कीजिए । राजा-महाराजाग्रों ग्रौर सेठ-साहूकारोंकी तारीफ़में लिखना बन्द कीजिए, वह तो माता सरस्वतीका ग्रपमान है । ग्रब ग्राप ग्रपने जनपद बुन्देलखण्डके विषयमें दस-बीस पद्य लिख दीजिए । यहाँकी प्रकृतिका वर्णन कीजिए । कवि-सम्मेलनोंमें उन्हींको सुना दिया कीजिए ।"

× × ×

पिछली बार--ग्रन्तिम बार--जब देवीदयालुजी पधारे, तो बड़े प्रसन्न थे । वे विवाहके सिलसिलेमें बरातमें ग्राये हुए थे । उन्होंने ग्रपनी नवीन कविता 'बुन्देलखण्ड' देते हुए कहा--"लीजिए ग्रापकी

आज्ञाका पालन मैंने कर दिया है। अब इसे छपानेकी ज़िम्मेदारी आप पर है।"

मैंने कहा—"आपकी इस रचनाको मैं किसी कविको दिखला लूंगा। उनसे संशोधन भी करा दूंगा।"

देवीदयालुजी निराश होकर बोले—"चौबेजी, कोई कवि भला मेरे-जैसे ग़रीब तुक्कड़की रचनापर क्यों श्रम करेगा ? सबको अपनी-अपनी पड़ी है। ग़रीबोंको कौन पूछता है ?"

मैंने कहा—"आप इतने निराश क्यों होते हैं ? मेरे मित्र हरिशंकरजी शर्मा बड़े सहृदय कवि हैं। वे अवश्य बड़ी सहानुभूतिपूर्वक आपकी रचनाको पढ़ेंगे।"

देवीदयालुजीको बड़ा सन्तोष हुआ और उन्हें यह आशा बँध गई कि उनकी एक पुस्तिका तो छप ही जायगी। [वह अब छप चुकी है भाई हरिशंकरजीने संशोधन कर दिया था।]

यह बातचीत २६ दिसम्बर, १९४६को हुई थी और इसके पन्द्रह दिनके भीतर ही देवीदयालुजीका स्वर्गवास हो गया। पैसोंके अभावमें वे स्टेशनसे समथर और अपने ग्राम तक दस-बारह मील पैदल ही गये थे। बुख़ार उन्हें उस समय था, सो निमोनिया हो गया और उसीमें वे चल बसे। सुना है कि अपनी मृत्युके पूर्व उन्होंने कई जगह कुण्डेश्वरके प्राकृतिक सौन्दर्यकी बड़ी प्रशंसा की थी और कहा था—"हम स्वर्गसे लौट रहे हैं।" जो कविता उनके सिरहाने पाई गई, वही उनकी अन्तिम अभिलाषा थी !

अपने जीवनमें हमें बीसियों कवियोंके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है; पर हमें अभी तक एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला, जिसे कविताकी बीमारीने इस प्रकार ग्रस लिया हो। उपदेश देना बहुत आसान है। 'शारीरिक श्रम करो, नौकरी करो, मुफ़्तका खाना क्यों चाहते हो ?' इत्यादि नसीहतोंसे भरे लेक्चर देनेमें लगता ही क्या है ?

देवीदयालुजीने नौकरी की थी, पर वह सात रुपए महीनेकी नौकरी

भी छूट गई। सड़कपर मज़दूरी भी की थी--दस आने रोज़पर--और वे नहरके एक बँगलेपर चपरासी भी रहे थे। फ़ीरोज़ाबादके काँचके कारखानोंमें वे मज़दूरी तलाश करनेके लिए ही तो गये थे, जहाँ उनके कपड़े और विस्तरोंके साथ काव्य-संग्रह भी चोरी चला गया!

बड़े-बड़े नगरोंमें अनेक बाग़-बग़ीचे हैं और उनपर सहस्रों रुपए व्यय किये जाते हैं; पर ग्रामोंमें तो किसी नीमके पेड़के नीचे बैठकर ही ग्रामीण जनताको छाया और शान्ति मिलती है। ये नीम स्वतः ही पैदा होते और नष्ट होते रहते हैं। आप उन्हें खेतों, खलिहानोंपर और अथाईके पास पावेंगे। देवीदयालुजी भी बस इन ग्रामीण वृक्षोंकी तरह ही थे। कृत्रिम संस्कृतिसे वे कोसों दूर थे। पुराने कवियोंकी रचनाएँ अथवा अपनी तुकबन्दियाँ सुना-सुनाकर वे समथर-राज्यके साहित्यिक रेगिस्तानमें एक छोटा-सा नखलिस्तान बना रहे थे। आज हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि किस प्रकार साहित्यिक-गंगाकी धाराओंको ऐसे स्थानोंपर पहुँचाकर उन नख़लिस्तानोंको बचाया जाय?

हमारे ये सब सम्मेलन निरर्थक होंगे तथा परिषदें फ़िज़ूल, यदि उनका कार्य केवल कुछ नगरों तक ही केन्द्रित और सीमित रहे। देवीदयालुजी उन तथाकथित 'क्षुद्र' कवियोंके एक प्रतीक थे, जो ग्राम-ग्राममें पाये जाते हैं, जिन्हें प्रोत्साहन तो क्या, पेट-भर भोजन भी नहीं मिलता और जो अपनी आकांक्षाओंको अपने साथ लिये ही इस संसारसे विदा हो जाते हैं। अख़बारोंमें उनका नाम नहीं छपता। न उनके लिए कोई स्वागत-उत्सव होता है, न शोक-सभा। प्रतिष्ठित कवि उन्हें उपहासकी, और साहित्यिक और ऐतिहासिक उपेक्षाकी दृष्टिसे ही देखते हैं। हाँ, उनकी स्मृति उनके कुछ ग्रामीण मित्रोंके हृदयमें अवश्य बनी रहती है, और वही उनका सर्वोत्तम स्मारक है।

जनवरी १९५०]

श्री शीलजी

"शीलजीने आत्मघात कर लिया !" जब यह हृदयवेधक खबर एक स्थानीय बन्धुने सुनाई, तो मैंने घबराकर पूछा—"क्या कहा आपने ?" उन्होंने उक्त भयंकर दुर्घटनाको दुहराया और साथ ही यह भी बतलाया कि उसका विस्तृत ब्यौरा झाँसीके एक पत्रमें छपा है।

शीलजी उस पार चले गये हैं, जहाँसे कोई लौटकर नहीं आता, और जिन विकट परिस्थितियोंसे मजबूर होकर उन्हें अपने प्रगतिशील जीवनको समाप्त कर देना पड़ा, उनका पूरा-पूरा ब्यौरा भी हमारे पास नहीं है। इसलिए उनके उस कठोरतम अन्तिम कृत्यके विषयमें फ़ैसला देना हमारे लिए धृष्टताकी बात होगी। शीलजी यदि अपराधी भी माने जावें, तो भी हम उनके जज नहीं बनेंगे। हाँ, शीलजीका आत्मघात हमारे सामने एक प्रश्नसूचक चिह्नके रूपमें उपस्थित हो गया है। घोरतम निराशाके समय साहित्यिक-समाजका कर्त्तव्य क्या है ? व्यक्तिगत तौरपर इस नाउम्मीदीका मुक़ाबला कैसे किया जाय ? क्या जन-साधारणसे इस बारेमें कुछ सहायता मिल सकती है ?

शीलजी हमारे साहित्योपवनके एक पुष्प थे, जिसका यश-सौरभ विन्ध्य-प्रदेशकी सीमाको पार करके पास-पड़ोसके जनपदोंको भी सुगन्धित कर रहा था और हमें यह आशा थी कि भविष्यमें वह सम्पूर्ण हिन्दी-जगत्‌में व्याप्त हो जायगा। पर वह पुष्प अकस्मात् ही कुम्हला गया ! उसकी सूखी हुई पंखुड़ियोंका यह अन्वेषण वास्तवमें अत्यन्त कष्टप्रद कार्य है।

× × ×

कुण्डेश्वरका निर्मल आकाश। रात्रिका समय। चारों ओर सन्नाटा। हम लोग आज 'उषा-विहार' नामक एक स्थलकी खोजमें खूब भटके थे

और बिल्कुल थके हुए थे। मैंने शीलजीसे कहा--"कोई ऐसा गीत सुनाइए, जिससे कुछ ताज़गी आवे। वसन्तका आगमन होनेवाला है। कोई वक्तकी चीज़ लिखी है क्या ?"

शीलजीने कहा--"थक तो मैं भी गया हूँ। आपके साथ जंगलमें बहुत भटकना पड़ा। वन्य पशुओंका डर था और रात हो चली थी। ज़रा सुस्ता लूं। पहले चायका एक प्याला तो मँगाइए।'

मैंने क्षमा-याचना की। चाय आई और कुछ स्फूर्त्ति भी। शीलजीने गुनगुनाना शुरू किया :--

"एक तारा आसमाँमें झिलमिलाया रात-भर।
चाँदनीने गोदमें उसको खिलाया रात-भर॥"

उस नीरवतामें शीलजीके मधुर स्वरसे निकला हुआ यह गीत व्याप्त हो गया। मैंने कहा--"शीलजी, आप तो उर्दूके ढंगपर भी लिखने लगे हैं !" उन्होंने कहा--"नहीं, यों ही एक मुशायरेमें मज़ाक़के तौरपर दो-चार पंक्तियाँ लिख दी थीं।" मैंने कहा--"पूरा गीत सुनाइए" उन्होंने आगे कहा :--

"जिससे मिलनेकी तमन्ना थी, न मिल पाया था वो।
यों तो अपने दिलका 'इकतारा' मिलाया रात-भर॥
रातकी ख़ामोश घड़ियोंमें हुआ बेचैन दिल।
क्या बताऊँ मैं, मुझे किसने सताया रात-भर॥
शबके पिछले वक्तमें कुछ टूटकर तारे गिरे।
टूटनेसे मैंने दिलको था बचाया रात-भर॥
ओ सितारे, ओसके मिस तू सहरमें रो रहा।
जब कि मैंने चश्मसे दरिया बहाया रात-भर॥
ओ सितारे, देखकर होती सुबह यों खो गया।
गोया मैंने ही तुझे जबरन जगाया रात-भर॥

मैंने कहा—"कविता-मर्मज्ञ तो मैं नहीं हूँ, पर इतना ज़रूर कहूँगा कि यह चीज़ आपने बढ़िया लिखी है। कुछ और भी सुनाइए।"

तत्पश्चात् शीलजीने अपनी 'वसन्त-आवाहन' नामक कविता गाकर सुनाई। उसे हम यहाँ छाप रहे हैं :

"गानेको गाते हैं गायन, नूतन वसंत आवाहन में!
पर प्रकृति-सदृश उल्लास कहाँ, हो सकता बन्दी-जन-मन में?
इन द्रुम-वल्लरियों की कतार,
हरिताभायुत अवयव-सँवार,
पथ पर झुक झूम—झूम जातीं,
करती ऋतुपति प्रेमाभिसार,
तरु पतिकायें बँधती सुख.से, प्रेमी तरुके आलिंगन में।
पर बेबस मानव जकड़ा है, हा! पराधीनता बंधन में।
ऋतु-पति ने जब अँगड़ाई ली,
सुरभित समीर सरसाई ही,
बौरोंकी वायु बही ज्यों ही,
तो महक उठी अमराई भी।
कोकिल के स्वर कूजे होंगे, कुछ दूर कहीं निर्जन वनमें।
उसका सुख कैसे मानें हम, निज परवशता में, क्रन्दन में॥
हो आज एकता का विकास,
बालारुण-रविका-सा प्रकाश,
उर कमल-दलोंके पलक खोल,
भर दे परिमलका-सा सुहास।
तब प्रकृति-पुरुषकी समता कुछ, पाई जा सकती जीवन में।
जब स्वतंत्रताका सुख-सौरभ बिखरे भारतके कण-कण में।
गाने को गाते हैं गायन, नूतन वसंत आवाहन में।
पर प्रकृति-सदृश उल्लास कहाँ, हो सकता बन्दी-जन-मन में?"

तत्पश्चात् मैंने फिर कहा—"इसमें तो निराशावादकी कुछ झलक-सी आ गई है। कोई आशाप्रद चीज़ भी सुनाइए।"

तब शीलजीने निम्नलिखित गीत सुनाया :—

"मैं असम्भवको सदा सम्भव बनाना चाहता हूँ।
आज मेरी भावनाओंको भले ही जग न जाने।
बात अन्तरसे उठी जो, वह भुले ही जग न माने॥
किन्तु प्रकृति प्रयाससे होते हरे हैं शुष्क तरुवर।
और मृदु-मधुवातसे खिलते नये हैं पुष्प सुन्दर॥
मैं पुरातनको सदा अभिनव बनाना चाहता हूँ।
मैं असम्भवको सदा सम्भव बनाना चाहता हूँ॥
व्यर्थ चिन्ता-घन घुमड़कर मन-गगनपर छा रहे हैं।
साथ कितने ही प्रबल तूफ़ान बढ़ते आ रहे हैं॥
किन्तु उर-सागर गहन-गम्भीर है निर्भय रहेगा।
यदि हिलोरें आ गईं तो गर्वसे जगसे कहेगा :
मैं उदासीको सदा उत्सव बनाना चाहता हूँ।
मैं असम्भवको सदा सम्भव बनाना चाहता हूँ॥
हो नया उल्लास उरमें नव उमंगोंकी झलक हो।
खुल रहा नवयुग नयनका आज उन्मीलित पलक हो॥
आज नूतनता निरखकर ही प्रफुल्लित प्राण होंगे।
और वसुधापर सुधाके हेतु नवनिर्माण होंगे॥
क्रन्दनोंको मैं सदा कलरव बनाना चाहता हूँ।
मैं असम्भवको सदा सम्भव बनाना चाहता हूँ॥

मैंने शीलजीसे कहा—"अब आपसे दो प्रार्थनाएँ हैं. . . ."

शीलजीने टोककर कहा—"आज्ञा दीजिये, आपको तो आज्ञा देनेका अधिकार है।"

"अच्छा, तो मेरा यह अनुरोध है कि एक तो आप सुन्दर अक्षरोंमें मेरे संग्रहालयके लिए इन तीनों कविताओंको एक रजिस्टरमें लिख दें और दूसरा यह कि अपने समस्त गीतोंका संग्रह करके मुझे दे दें।"

शीलजी हँसकर बोले--"आपने तो एक साथ इतना भार डाल दिया। मेरे-जैसे मनमौजी आदमीसे आपने बेजा उम्मीद की है। मेरे अक्षरोंकी तो आपको सदा शिकायत ही रही है। सुन्दर कैसे लिख सकूँगा? और गीत यों-ही बिखरे पड़े हैं। उन्हें कहाँ-कहाँसे समेटूँगा?"

मैंने कहा--"तब मैं आपको हुक्म देता हूँ कि ये दोनों काम कीजिए।"

शीलजी खूब हँसे और बोले--"हाँ, अब आपने अपने अधिकारका ठीक प्रयोग किया है! आज्ञा शिरोधार्य है।"

दूसरे दिन शीलजीने तीनों कविताएँ अपने हाथसे लिख दीं। मैंने उनसे कहा था--"आपके गीत-संग्रहमें एक कविताका ब्लाक छापूँगा, इसलिए उसे लाल स्याहीसे लिखिए। ब्लाक लाल स्याहीके अक्षरोंका ठीक बनता है।" उन्होंने यही किया। गीत-संग्रह करके उन्होंने भेजनेका वचन भी दिया; पर वे उस वचनका पालन न कर सके। यद्यपि संग्रह उन्होंने कर लिया था, पर वे मुझे भेज नहीं सके।

× × ×

शीलजी तीन बार कुण्डेश्वर पधार चुके थे और मुझे इस बातका आजीवन दुःख रहेगा कि मैं चौथी बार उनको न बुला सका--यद्यपि इसके लिए उन्होंने दो-तीन बार, अनुमति भी माँगी थी! बात यह हुई थी कि शीलजीके पागल हो जानेकी ख़बर उड़ चुकी थी और कई जगहसे उनकी विक्षिप्तताके समाचार यहाँ पहुँच चुके थे। उनकी तत्कालीन मनोदशामें उन्हें यहाँ निमन्त्रण देनेका साहस मैं न कर सका। उनके लिए मैं बहुत चिन्तित था; पर जब मैं अमर शहीद आज़ादकी पूज्य माता-जीके दर्शनार्थ झाँसी गया, तो उन्हें मैंने चित्तकी स्वस्थ अवस्थामें ही पाया। उससे मुझे आश्चर्यमय हर्ष हुआ। वास्तविक बात क्या थी, उसका ब्यौरा

शीलजीने अपने अन्तिम पत्रमें, जो आत्मघातके कुछ घंटे पूर्व लिखा गया था, विस्तार-पूर्वक लिखा था। उनके शब्द ये हैं :—

"संसार पर पूँजीके आधिपत्यसे मैं इतना डरा हुआ हूँ कि अपनी भावनाओंको व्यक्त करनेके लिए साधनोंका जुटाना बिल्कुल आसान नहीं समझता। देशभक्ति आदि नवनिर्माण करनेमें है और उस नवनिर्माणमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्षमें पूँजीपतियोंके हाथ और भी मज़बूत होते हैं, इसलिए यह कार्य करनेमें भी मैं अपने-आपको असमर्थ पाता हूँ। (अपने परिवारके लिए मैं इसलिए कामका नहीं हूँ कि इस महँगाईके ज़मानेमें एमप्लायमेण्ट एक्सचेंज मेरे लिए ४०)-५०) की नौकरी बताता है!) जिस व्यक्तिकी भावना यह हो कि समस्त संसारके बच्चे स्वास्थ्य-वर्धक खाद्य, पेय और शिक्षाके अधिकारी हों, उसके ही सामने उसके बच्चे सूखी रोटी खाकर निराहार बनें, भूखे रहें, वह अपने जीवनको कैसे सफल मान सकता है? समाजको छोड़कर व्यक्तिगत सुख मेरे लिए कोई उम्मीद नहीं रखता, इसलिए मैं अपने जीवनको व्यर्थ माननेके लिए बाध्य हूँ। अब मेरे सामने प्रश्न यह है कि इस व्यर्थ जीवनको सुरक्षित क्यों रखूँ? जिस जीवनमें कोई आकर्षण नहीं, उसकी गाड़ी लस्टम-पस्टम रूपमें घसीटते रहनेमें मैं कोई शान नहीं समझता और निरन्तर चिन्तन करते रहनेके पश्चात् मुझे इस निष्कर्षपर पहुँचना पड़ा है कि नित्य-नित्य घुटकर मरनेकी अपेक्षा एक बारमें ही अपने-आपको समाप्त कर देना अधिक श्रेयस्कर है.."

एक सालके हृदय-मंथनके बाद शीलजी इस भयंकर परिणामपर पहुँचे थे। और उस वर्ष-भरमें उनको जिन वेदनाओंको सहन करना पड़ा, उनका कुछ-कुछ आभास उनके पत्रोंसे मिल सकता है। 'स्वतन्त्र'से अलग किये जानेपर उन्होंने एक बड़ी ज़बरदस्त भूल की थी, वह थी अपनेको पागल प्रसिद्ध करनेके लिए पागलपनका स्वाँग; और अपने अन्तिम पत्रमें उन्होंने इस 'नाटकीय प्रदर्शन'का ज़िक्र भी किया था। वस्तुतः शीलजी

विवेक खो बैठे थे और उसके मूलमें उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। उनके कुछ पत्रोंके अंश सुन लीजिए——

"मनको बहुत मनाता-समझाता हूँ, पर विचारोंका ताँता टूटता ही नहीं। तीन महीनेसे बीमारी और बेकारीमें पड़ा हूँ। धनियाँ, पालक आदि तो शहरोंमें बहुत महँगे मिलते हैं। ऋण हो चुका है, आमदनीका कोई ज़रिया नहीं है। और ऋण करना नहीं चाहता। फिर भी कहींसे पैसे मिल जाते हैं, तो हरी भाजियोंमें ही ख़र्च करता हूँ। सिगरेट बिल्कुल छोड़ दी है। बीड़ीपर गुज़र करता हूँ। अभी कुछ दिनों भीख माँगकर काम चलाया। उससे बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। कुछ दिन हुए.... जी १५) दे गये थे। उसीसे आटे और घीका काम चलाया, लेकिन ऐसे आख़िर कब तक चलेगा? यही सोचकर मनमें निराशा बढ़ जाती है और तबीयत सुधरनेके बजाय उल्टी बिगड़ जाती है। जितना अपना निर्माण किया, उससे अधिक मेरा नाश हो चुका है। कृत्रिम हँसी हँसकर लोगोंसे बातें कर लेता हूँ। हरएकके सामने अपना रोना रोया भी तो नहीं जा सकता। **प्रामाणिक श्रमसे अर्जित अन्न ही मुझे अच्छा कर सकता है।**"

अन्तिम वाक्य शीलजीने लाल स्याहीसे लिखा था। निस्सन्देह शीलजी जिस परिणामपर पहुँचे थे——यह वाक्य-रत्न चार महीनेके अन्तर्द्वन्द्व और हृदय-मन्थनके बाद उनके हाथ लगा था——वह प्रत्येक बुद्धिजीवीके लिए हृदयंगम करनेकी चीज़ है। **प्रामाणिक श्रमसे अन्न किस प्रकार अर्जित किया जाय?** यही प्रश्न हम सबके सामने उपस्थित है। शीलजीने अपनी शक्तिके अनुसार उसे हल करनेका प्रयत्न किया, पर वे असफल रहे। तदर्थ वे हमारी आलोचनाके नहीं, करुणाके ही पात्र हैं।

इस बीचमें मैं उन्हें बराबर हिम्मत बँधाता रहा और परामर्श भी देता रहा। गीत-संग्रहके बारेमें मैंने तक़ाज़ा किया, तो उन्होंने लिखा——"गीत-संग्रहके लिए अभी तो लिखा-पढ़ी नहीं की है और प्रकाशक

तो आजकल केवल इतना advance देते हैं, जिससे मुश्किलसे महीने-दो-महीनेका काम चल सकता है।"

एक पत्रको उन्होंने अपना गीत भेजा, उसने दस रुपए पारिश्रमिकके भेज दिये, पर दूसरा गीत वहाँसे अस्वीकृत होकर लौट आया। एक अन्य पत्रमें शीलजीने लिखा था—"मनके विपरीत तो मुझसे कोई कार्य न हो सकेगा। भले ही मुझे भूखों मर जाना पड़े। कम-से-कम आगे आनेवालोंके लिए दृढ़ताका कुछ तो उदाहरण बन ही जायगा। गीत आपको भेज चुका हूँ—'मेरे बाद जहाँमें मेरा कुछ तो नाम-निशान रहेगा'। गांधी-अंकके लिए मुक्तवृत्तमें भी एक रचना भेज रहा हूँ।....पत्रने कल दस रुपएका मनीआर्डर भेज दिया है। उसमे दिवाली मन जायगी। मेरा विश्वास है कि क़लम चलती रही और मैं समूहकी सेवा करता रहा, तो शायद रोटियोंकी कमी न पड़ेगी। देखिए, क्या होता है!"

इस प्रकार वे आशा तथा निराशाके झूलेमें झूलते रहे। एक अन्य पत्रमें लिखा था—"लिखना बहुत चाहता हूँ, पर काग़ज़-क़लमके प्रबन्धकी बात तो दूर रही, पोस्ट करनेका प्रबन्ध नहीं है। पता नहीं, यह पत्र आपके कर-कमलोंमें पैसेके अभावसे कब समर्पित कर सकूँगा!"

सूचना-विभाग और रेडियोसे कुछ पैसे मिल गये और उससे शीलजीकी हिम्मत बँध गई। जब पैसे चुक गये, तो राशनिंगमें एक स्थायी कार्य ९३ रु० मासिकपर कर लिया। वह सिर्फ़ दो महीनेके लिए था। शीलजीने लिखा था—"१५ दिन गुज़र चुके हैं, अब डेढ़ महीने बाद क्या होगा, कुछ समझमें नहीं आता। दादाजी! मैं तो समाजकी इस आर्थिक व्यवस्थासे बिल्कुल खीज गया हूँ। जो व्यक्ति एक महीने पहले १७५ रु० पाये, उसीको एक महीने बाद ९३ रु० दिये जायें! इस झूलेमें मेरा कचूमर निकला जा रहा है। 'निराशा हि परमं सुखं'को हृदयस्थ करनेके बाद जो गीत निकला है, उसे 'विन्ध्यवाणी'के लिए भेज रहा हूँ। मेरे लिए कोई योग्य

कार्य ढूँढ़नेमें आप मदद कर दें, तो बड़ी कृपा हो। 'योग्यं योग्येन युज्यते'। आशा है, पत्रोत्तर मुझे मिल जायगा।"

शीलजीकी वह कविता यहाँ उद्धृत की जाती है :

ग़रीबोंकी ज़िन्दगी

"चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए !
अब नहीं बाक़ी जगतमें प्यार है मेरे लिए !

विश्व-उपवनमें मृदुल आया कभी था फूल बन,
पर खटकता आज जगकी दृष्टिमें, मैं शूल बन,
क्योंकि पैसेका पराग न पास मेरे रह गया,
इसलिए मैं रह रहा हूँ आज पगकी धूल बन,

विश्वका बदला हुआ व्यवहार है मेरे लिए !
चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए !

हो रहा है शुष्क प्रतिभाका प्रफुल्ल प्रसून अब,
क्योंकि भोजन ठीकसे मिलता न दोनों जून अब,
उस दिवसकी कल्पनामें सूखता मैं जा रहा,
जिस दिवस होगा नहीं उपलब्ध सूखा चून अब,

फिर भला संसारमें क्या सार है मेरे लिए ?
चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए !

आज आशाके झकोरे भी झुलाते हैं नहीं,
आज तो सुख-स्वप्न भी दुखको भुलाते हैं नहीं,
कल्पना-किसलय हुआ (है सूखकर) बेकार अब,
रात्रिके नीरव प्रहर भी तो सुलाते हैं नहीं !

आज चारों ओर हाहाकार है मेरे लिए !
चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए !

तितलियोंके प्यारकी मनुहार छाया हट गई,
फूलता था लख जिसे वह मधुर माया हट गई,
जब हुआ दारिद्रचका अधिदेवता सम्मुख प्रकट,
वज्र टूटा व्योमकी चादर यकायक फट गई,
अब न छाया है, न कुछ आधार है मेरे लिए !
चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए !
सोचता था काट लूंगा चार दिन हँसकर सदा,
पर अभावोंकी घटा बन आ गई है आपदा,
व्यक्तिगत अनुभव बताता (आज कुछ ऐसा) मुझे,
चार दिन भी चाँदनी खिलती नहीं है सर्वदा,
घोर तमका हो रहा विस्तार है मेरे लिए !
चार दिनकी ज़िन्दगी भी भार है मेरे लिए !
अब नहीं बाक़ी जगतमें प्यार है मेरे लिए !"

मेरा अक्षम्य अपराध

शीलजीके उक्त पत्रका उत्तर मैं दे नहीं सका और कविता भी मैं उनके स्वर्गवासके बाद पढ़ पाया। बात यह हुई कि अपने प्रिय साहित्यिक तथा सांस्कृतिक केन्द्र 'गाँधी-भवन'पर आयें हुए संकटोंसे मैं अत्यन्त उद्विग्न था और मैंने वह कविता पत्रके साथ ही 'विन्ध्यवाणी'-सम्पादकको दे दी थी। शीलजीकी रचनाके अस्वीकृत होनेकी तो कल्पना ही नहीं थी। सोचा था कि छपनेपर पढ़ लूंगा ! वह कविता २०-२२ रोज़ तक नहीं छप पाई और इस बीचमें शीलजीके आत्मघातका भयंकर समाचार आ गया।

गांधी-भवनमें शीलजी

स्वयं शीलजी कुण्डेश्वरकी इस संस्था (गांधी-भवन)के लिए अत्यन्त चिन्तित थे, और एक पत्रमें उन्होंने लिखा भी था—

"आपके 'बोरिया-बिस्तर बाँध रहा हूँ'को पढ़कर मन बहुत ही खिन्न हो जाता है। एक प्राकृतिक स्थल, जिसका उपयोग हम बड़े सुविधापूर्वक ढंगसे कर लेते थे, अब हमारे लिए नहीं रहा और उससे भी अधिक आप जो हम लोगोंके बीच थे, हमारे हितोंके लिए प्रयत्नशील थे, यों ही टीकमगढ़ क्या, पूरे प्रदेशसे 'अभिनिष्क्रमण' करनेके लिए बाध्य हुए हैं! हम लोगोंकी कमज़ोरीकी ही बदौलत। यदि हमारा कोई भी बढ़िया संगठन होता, तो हम आपको अपने बीच ही देख सके होते। नास्तिक होनेपर भी मैं इसे विधिका विधान ही कहूँगा।"

एक अन्य पत्रमें उन्होंने लिखा था—"यह तो हम लोगोंकी अकर्मण्यता-का ही दुष्परिणाम होगा कि हम गांधी-भवन-जैसे आश्रम और आसपासके तपोवनका विधिवत् संचालन न कर सकें। **गांधी-भवनकी रक्षाके लिए हम अपने प्राण तक होमनेको तैयार रहेंगे।**"

शीलजीको अपने इस जनपद बुन्देलखण्डसे अत्यन्त प्रेम था और 'जन-मत'-कार्यालय, शाहजहाँपुरसे उन्होंने लिखा था—"अपने प्यारे बुन्देल-खण्डको मुझे छोड़ना पड़ा। खास तौरसे इसलिए कभी-कभी रुलाई आ जाती है कि बुन्देलखण्डमें मुझे रोटी भी न मिल सकी।"

आज मैं शीलजीकी स्वर्गीय आत्मासे क्षमा-याचना करता हूँ कि मैं अपनी मजबूरियोंके कारण उन्हें कुण्डेश्वरके उस प्राकृतिक स्थलपर फिरसे नहीं बुला सका, जिसके लिए वे अपने प्राण तक होमनेको तैयार थे!

शीलजीने निराश होकर अपने प्राणोंका जिस प्रकार विसर्जन किया, उसकी आलोचना हम नहीं करना चाहते; पर उनके आत्मघातने जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित किये हैं, उनकी उपेक्षा करना महान् कायरता होगी। सबसे प्रथम कर्त्तव्य हमारा यही है कि हम साहित्य-सेवी कहलाने-वाले व्यक्ति पारस्परिक सहानुभूति द्वारा एक-दूसरेके अधिकाधिक निकट पहुँचें। जिस पूँजीवादी व्यवस्थाका ज़िक्र बार-बार शीलजीने किया है,

उसका मुक़ाबला व्यक्तिगत ढंगपर नहीं किया जा सकता । प्रत्येक सजीव साहित्यिकका कर्त्तव्य है कि वह उस दल अथवा उन दलोंको व्यावहारिक रूपसे भरपूर मदद दे, जो उक्त व्यवस्थाको बदलनेके लिए प्रयत्नशील हैं । सर्वोदय-संघ, समाजवादी दल और कम्युनिस्ट पार्टी इत्यादिके द्वारा जो प्रयत्न हो रहे हैं, उनका अध्ययन करना हम सबका कर्त्तव्य है । किन्तु सब लोगोंके लिए एक ही मार्ग ठीक नहीं हो सकता । अपनी रुचि, शक्ति और योग्यताके अनुसार जिसकी अन्तरात्मा जिस मार्गको उचित समझे, वह उसे ग्रहण करे । हाँ, प्राण होमनेका सर्वोत्तम तरीक़ा 'ज़िन्दा शहीद, बनना है और उसपर महात्मा गाँधीने अनेक बार लिखा था ।

हर हालतमें हमें विश्वकी प्रगतिशील शक्तियोंके साथ रहना है । वह युग कभीका लद चुका, जब कोई साहित्य-सेवी जन-संग्रामसे अलग रहकर अपने वाग्विलासमें मस्त रहे । हमें प्रतिक्रियावादी ताक़तोंसे मोर्चा लेना ही पड़ेगा और एतदर्थ छोटे-मोटे संघोंका निर्माण करना ही होगा । हमें यह आशा छोड़ देनी चाहिए कि सरकारसे या साधन-सम्पन्न व्यक्तियोंसे हमें कुछ सहायता मिलेगी । हाँ, समानशील बन्धुओंकी सहानुभूति हमें अवश्य मिलनी चाहिए । फिर भी हम सबको अपने ख़र्च घटाकर स्वावलम्बी बनना है । किसीका भी मुँह नहीं ताकना है ।

"प्रामाणिक श्रमसे अर्जित अन्न ही मुझे अच्छा कर सकता है"—शीलजीका यह वाक्य हम सबके लिए पथ-प्रदर्शक है और यदि हमने इस सत्यको हृदयंगम कर लिया, तो पूँजीवादसे भयभीत तथा त्रस्त होकर किया हुआ उनका यह बलिदान निरर्थक न जायगा । क्या हम भावी जीवन-संघर्षके लिए तैयार हैं ? हिन्दीके एक उदीयमान कविका आत्मघात हमारे सामने एक प्रश्नसूचक चिह्नके रूपमें उपस्थित है ।

नवम्बर १९४९]

स्वर्गीय साधकजी

प्रातःकालकी चाय पीकर अभी लेटा ही था, और मानसिक तथा आध्यात्मिक शराब पिलानेवाले एमर्सनके निबन्ध हाथमें लिये ही थे कि नौकरने आकर कहा, "पंडितजी, कोई आदमी आपसे मिलना चाहते हैं।" बड़ी झुँझलाहट हुई। समझा कि किसी वक़्त ख़राब करनेवालेने यह बेवक़्त आक्रमण किया है! बाहर आना ही पड़ा।

"आइए, पधारिए।" मैंने शिष्टाचारवश कहा।

"क्षमा कीजिए, मैंने आपको कष्ट दिया। मेरा नाम सीताराम साधक है।"

"अच्छा साधकजी! आपकी रचनाएँ तो मैंने 'विशाल-भारत'में छापी थीं।"

"हाँ, दो-एक तुकबन्दियाँ मैंने भेजी तो थीं।"

तत्पश्चात् साधकजीसे तीन घंटे साहित्यिक विषयोंपर वार्तालाप हुआ। साधकजीकी विनम्रता तथा संकोचशीलताने मुझे मुग्ध कर दिया। इस तीन घंटेके बीचमें उन्होंने अपने विषयमें एक भी बात नहीं कही, न अपनी साहित्यिक सेवा या कविताओंका ज़िक्र किया, और न अपनी कठिनाइयोंका। मैंने भी समझ लिया कि जिस प्रकार मुझे श्रीमान् ओरछेशकी संरक्षकतामें समस्त सुविधाएँ प्राप्त हैं, शायद साधकजी भी उसी प्रकार श्रीमान् ग्वालियर नरेशके आश्रयमें पूर्णतया सुखी होंगे।

मैं जानता था कि साधकजी ग्वालियर रहते हैं। फिर भी मैं धृष्टतापूर्वक पूछ बैठा, "कहिए, आजकल क्या शग़ल रहता है?"

"यही मजदूरी करके पेट पालन कर लेता हूँ।"

मैंने कहा, "मज़दूरी! यह बात तो समझमें नहीं आई। साफ़-साफ़ कहिए।"

तब मुझे साधकजीने बतलाया कि वे १० आने ८ पाई रोज़ पर मुरार-की पब्लिक लाइब्रेरीमें काम कर रहे हैं। पाँच प्राणी हैं, स्वयं, पत्नी, वृद्ध माता-पिता और सालभरकी एक बच्ची।

साहित्यिक आदमी, दस आने आठ पाई, और पाँच प्राणी! ज़मीन मेरे पैरोंसे खिसकने लगी, और दिमाग़ कुछ चकराया। चूँकि मेरे पूज्य पिताजीने औसतन ६ आने रोज़पर पचास वर्ष तक ग्राम-स्कूलोंकी मुदर्रिसी की है (और मेरे सौभाग्यसे वे अब भी जीवित हैं) मुझे साधकजीकी परिस्थिति समझनेमें देर न लगी। श्रद्धासे मेरा मस्तक उस मज़दूर साहित्य-सेवीके सम्मुख झुक गया। तब मैं साधकजीकी निम्नलिखित सुन्दर कविताका अर्थ समझ सका, जो 'निकुंज'में प्रकाशित हुई थी।

अतीतकी स्मृति

"जो तारे झिलमिल झिलमिल कर
देखा करते थे सपने,
जिन्हें देखकर मेरी भी, सखि,
पलकें लगती थीं झँपने,
वह भी कहाँ रहे अपने!

वह मधु ऋतुकी मादक सन्ध्या,
वह चाँदी-सी उजली रात,
वह किरणोंका जाल मनोहर,
वह सोनेका मधुर प्रभात,
जाने कहाँ गये अज्ञात!

सुन विहँगोंकी मधुर प्रभाती,
निरख उषाकी मृदु लाली,
जो मालिन ले जाती थी—

कुसुमोंसे भर-भरकर थाली,
आज खड़ी है वह खाली !
जिसे कभी मधुके प्यासे अलि,
कुसुमोंके प्यालोंसे पी,
मरते-मरते एक बार
नव जीवन पा उठते थे जी,
ढुलक गई वह मदिरा भी !
वह पत्रोंकी मर्मर ध्वनि, सखि,
वह कोयलका पंचम स्वर,
कल-कल स्वरसे बहता रहता,
था जो सूनेमें निर्झर,
बन्द हुआ उसका भी स्वर !
क्या न कभी आकर कूकेगी—
फिरसे कोयलिया काली ?
क्या न कभी फिरसे आयेगी,
उपवनमें जीवन-लाली ?
कौन जानता है आली !"

'निकुंज'के संग्रहकर्ताने साधकजीके विषयमें लिखा था, "आपका कुटुम्ब उस श्रेणीमें आता है, जिसे आधुनिक समाज-शास्त्रज्ञ प्रोलितेरियन या श्रमजीवी कहते हैं, और जिसके लिए साहित्य, कला, विज्ञान, सबके द्वार बन्द हैं।....आप शारीरिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिए श्रम करते हैं, मानसिक उन्नतिके लिए स्वाध्याय और हृदयका मधुर भार उतारनेके लिए कविता भी।"

साधकजीकी अनेक रचनाओंमें जो टीस पाई जाती है उसके स्रोतका मुझे पता उस दिन लगा।

श्रीयुत साधकजीने टीकमगढ़में कुछ दिन क्लार्कीका काम किया था,

और यहाँके प्राकृतिक सौन्दर्यपर वे मुग्ध थे। बातचीतके सिलसिलेमें उन्होंने बड़े संकोचके साथ कहा कि टीकमगढ़में उनकी ससुराल है और यहाँके विषयमें उन्होंने एक तुकबन्दी भी की है। मैंने कहा, "हाँ, तब तो अपनी ससुरालके सौन्दर्यपर अपनी कविता ज़रूर भेजिए।" आज साधक-जीके स्वर्गवासके बाद उस कविताको उद्धृत करते हुए चित्तको बड़ा खेद हो रहा है।

टीकमगढ़की स्मृतिमें

(१)

वे सुन्दर सुरभित सरस फूल !
रे कैसे जाऊँ उन्हें भूल ?
अलि तन्मय गुंजन भूल-भूल !
वे दृश्य देख इस उर में था—
लहराता रस-मानस अकूल,
वे सुन्दर सुरभित सरस फूल !

(२)

वे लहराते सागरसे सर !
वे लहरें थीं कितनी सुखकर !
मैं जिन्हें देखता था दिनभर,
रे खेल-खेल उन लहरोंसे—
मैं श्रान्त न होता था क्षणभर,
वे लहराते सागरसे सर !

(३)

वे बहते चाँदीसे निर्झर !
रुकते थे जो न कभी पलभर,

जिनकी इच्छा न कहीं निर्भर
पी जल जिनका अंजलि भर-भर--
कवि-जीवन मेरा हुआ अमर !
वे गंगासे निर्मल निर्भर !

(४)

वह ताल किनारेका पनघट !
आतीं कुलबधुएँ भरने घट,
अध-खुले चकित झिलमिल घूंघट
उनके पद-नूपुरका रुनझुन,
भरता रससे मन-घट सुन-सुन,
वह पावन प्रेम-तीर्थ-पनघट !

(५)

वह आम्र घटा काली-काली,
जिसमें छिप कोयल मतवाली,
दिनभर गाती मधुकी आली,
सुन-सुनकर जिसकी मधुर कूक--
दिल हो जाता था टूक-टूक,
उठती प्राणोंमें एक हूक !

(६)

वन, उपवन, कोयल, भ्रमर, फूल,
निर्भर, सर, सरिताका सुकूल,
हरियालीका फैला दुकूल,
वह छवि उरमें है रही झूल,
कैसे रे उसको सकूँ भूल ?
स्मृति बनी हृदयका मधुर शूल !

(७)

रे टीकमगढ़की मधुर याद !
जब आ जाती है कभी याद,
यह सत्य बात है निर्विवाद,
बहता नयनोंसे विमल नीर,
मैं किसे दिखाऊँ हृदय चीर,
व्याकुल उरकी रे अकथ पीर !

इसमें साधकजीने टीकमगढ़के प्राकृतिक सौन्दर्यका जो वर्णन किया है, वह कोरमकोर कवि-कल्पना नहीं है। यहाँके सुन्दर सरोवर, कुण्डेश्वरके जल-प्रपात तथा निकटस्थ वन-उपवनोंकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी।

श्रीयुत साधकजीसे मेरा पत्र-व्यवहार होने लगा। अपने २३ जनवरी सन् १९३८के पत्रमें उन्होंने लिखा था—

"वसन्त-व्याख्यान-मालाकी चर्चा मैं मित्र-मंडली तथा साहित्यिक बन्धुओंसे बराबर कर रहा हूँ। आपके पत्रके मिलते ही मैं 'जयाजी-प्रताप' कार्यालयमें गया था और श्रीवास्तवजी आदिसे मिला था। उनसे इस विषयमें काफी समय तक विचार-विनिमय होता रहा। मैंने उनसे व्याख्यान-दाताओंकी आर्थिक समस्याके संबंधमें प्रश्न किया था, तो उन्होंने कहा, "यह समस्या कोई बड़ी समस्या नहीं, यह तो शीघ्र ही हल हो जायगी।" वसन्त-व्याख्यान-मालाका आयोजन भी वे इसी वर्षसे प्रारम्भ करना चाहते हैं।"

दूसरी बार जब साधकजी टीकमगढ़ पधारे (यह थोड़े ही दिनोंकी बात है) तब दो-तीन घंटेके लिए फिर मेरे निवास-स्थानपर आये और फिर साहित्यिक विषयोंपर बातचीत हुई। अबकी बार उन्होंने मुझे यह ख़ुशख़बरी सुनाई कि उन्हें पुस्तकालयसे पाँच रुपये मासिक साइकिलके भत्तेके मिलने लगे हैं।

मेरी हार्दिक इच्छा थी कि श्रीयुत साधकजी टीकमगढ़ वापस आ जावें, और उनके लिए मैंने कार्य भी खोज लिया था। एक चिट्ठी मैंने उन्हें भेजी जिसमें मैंने मज़ाक़में लिखा था, कि टीकमगढ़में ढाई तीन दिन ठहरने पर भी आपने मुझे दो तीन घंटे ही दिये, इससे यह प्रमाणित होता है कि आप साहित्य-सेवासे ससुरालको अधिक महत्व देने लगे हैं, इत्यादि न जानें क्या-क्या ऊटपटांग बातें मैंने लिख भेजी थीं। इस चिट्ठीके उत्तरमें श्रीमान् मिलिंदजीका पत्र आया कि श्री साधकजीका तो अस्पतालमें स्वर्गवास हो गया, आपकी चिट्ठी उन्हें नहीं मिल सकी, वापिस भेजी जाती है!

पत्र पाते ही आँखोंमें आँसू आ गये! साधकजी चले गये और अपनी साहित्यिक साधनाके अरमान भी साथ ही लेते गये। उनकी स्मृतिमें लिखी गई किसी पत्रकी एक भी पंक्ति मेरे देखनेमें नहीं आई। हाँ, केवल जयाजीप्रतापमें साधकजीके स्वर्गवासका समाचार ता० ३० नवम्बर १९३९के अंकमें पृष्ठ १०पर प्रकाशित हुआ था। किसीने उन्हें याद नहीं किया और इस विज्ञापनके युगमें विज्ञापनसे दूर भागनेवाले किसी साहित्यिकको भला कौन याद करेगा? सुना है कि अपनी कविताओंके संग्रहको छपानेकी उनकी इच्छा थी। वह भी उनके साथ गई। और कविताएँ? उन्हें कौन पूछता है? युग-प्रवर्तक कवियोंके जमघटमें भला उस संकोचशील साधकको कहाँ स्थान मिल सकता है? जहाँ रुपयोंसे और बैंकके मोटे हिसाबसे आदमीकी योग्यताका अन्दाज़ लगाया जाता हो, वहाँ उस मज़दूर, दस आने आठ पाई रोज़ पानेवाले श्रमजीवीका दर्जा हो ही क्या सकता है?

वस्तुतः साधकजी उन सैकड़ों-हज़ारों मज़दूर-लेखकोंके प्रतिनिधि-स्वरूप थे, जो इस स्वार्थी हिन्दी संसारमें चुपचाप आते और अपनी आकांक्षाओंको हृदयमें दबाये हुए चुपचाप चले जाते हैं। पर अन्तरात्मामें एक प्रश्न उठता है, "क्या हमारे जैसे विज्ञापित आरामतलब साहित्य-सेवी,

जिनके लिए साहित्य-सेवा एक 'शग़ल' ही है, उन साधकोंकी चरणरज लेनेके भी अधिकारी हैं ?'

अन्तरात्माके इस क्षोभकर प्रश्नको ज़बरदस्ती दबानेके लिए मेरे बुर्जुआ मनने नौकरसे चार प्याले चाय बनाने और बढ़िया बिस्कुट लानेके लिए ऑर्डर दे दिया। फिर भी विद्रोही आत्मा सर्वदाके लिए मौन उस 'साधक' के चरणोंमें, चाहे वह किसी भी लोकमें हो, चार आँसुओंकी यह श्रद्धांजलि भेंट करनेके लिए उतावली है।

आज़ादकी माताजी

"माताजी आ गईं ! चलो, उनका स्वागत कर लें।" यह सुनते ही जल्दीसे हाथ-मुँह धोकर घरसे बाहर आया और पूज्य माताजीके चरण स्पर्श किये। उनके साथ आज़ादके पुराने सहयोगी मास्टर रुद्रनारायणजी तथा बन्धुवर भगवानदासजी माहौरके भी दर्शन हुए। मानो घर बैठे तीर्थ आ गये हों ! वह दिन हमारे लिए चिरस्मरणीय रहेगा। पर श्रद्धेय माताजीका यह शुभागमन कोई आकस्मिक घटना न थी।

दस वर्ष पहलेकी बात है। जिस दिन हमने 'विप्लव' में श्री वैशम्पायनजी द्वारा लिखित आज़ादके जन्मस्थानकी तीर्थयात्राका वृतान्त पढ़ा था और उस झोंपड़ीके तथा माताजीके चित्रोंको देखा था, हमारी आँखें डबडबा आई थीं और हमने यही कहा था—"यदि हम लोग अलफ़्रेड-पार्क प्रयागसे (जहाँ आज़ाद शहीद हुए थे) भाबरा (अलीराजपुर) तककी पैदल यात्रा करके माताजीके चरण स्पर्श करें, तो शायद हम आज़ादको सच्ची श्रद्धांजलि देनेके कुछ अधिकारी बन सकते हैं।"

पर अपने बहुधन्धीपन तथा प्रमादके कारण हम पैदल तो क्या रेल द्वारा भी भाबरा न पहुँच सके ! और वह ७०–७५ वर्षकी वृद्धा आज हमारे यहाँ स्वयं ही आ पहुँची थीं। माताजीने चार दिन तक इस भूमिको पवित्र किया और उन चार दिनोंमें हमने समझा कि इस साधनहीन भोली-भाली बुढ़ियाके हम कितने ऋणी हैं।

माताजी पुराने विचारोंकी हैं। आते ही वे लड़कियोंसे इस प्रकार मिलीं-भेंटीं, मानो वे चिरपरिचित हों और अपने घरमें ही आ रही हों। दो दिनोंमें ही माताजी इतनी घुल-मिल गई कि लड़कियोंको उचित आदेश

भी देने लगीं। पुत्री देवकीसे बोलीं—"भोजन करनेके बाद तुम हमारे पास क्यों नहीं बैठीं ?" लड़कीने सकपकाकर उत्तर दिया—"माताजी, हमें नींद लगी थी, सो दूसरे कमरे में जाकर सो गई।" माताजीने कहा—"नहीं, तुम्हें हमारे पास आना ही चाहिए था। हमारा हुकुम मानो।"

दरअसल माताजीमें वात्सल्यकी अतृप्त भावना प्रबल मात्रामें विद्यमान है। जिस बुढ़ियाके पाँच बच्चे एकके-बाद-एक चल बसे हों, उसके मनमें यह भावना आना सर्वथा स्वाभाविक है कि कोई तो हमारी बात बच्चोंकी तरह सुने, किसीपर तो हम प्रेमपूर्ण 'हुकुम' चला सकें! आज़ादको शहीद हुए अठारह वर्ष हो चुके और उनके पिता पंडित सीतारामजी तिवारी भी ग्यारह वर्ष पहले चल बसे। भाबरा ग्राममें एक कोनेपर भीलोंके बीच एक झोंपड़ीमें माताजी अपने वैधव्यके ग्यारह वर्ष बिल्कुल एकान्तमें काटती रही हैं। ब्राह्मणके सिवाय किसी दूसरेके हाथका बना कच्चा भोजन वे कर नहीं सकतीं और ब्राह्मण-कुटुम्ब उस ग्राम-भरमें शायद एक ही है। तीन-चौथाई बस्ती मुसलमानों और भीलोंकी है। पैसेकी कहींसे आमदनी नहीं। कहींसे कुछ मिल गया, तो दोनों वक्तका भोजन एक वक़्त बनाकर रख लिया। कोदों और दाल ही उनका खाद्य रहा है। और वह कभी-कभी बासी ही खाती रही हैं। ग़रीबीमें कौन किसको पूछता है? भला हो आज़ादके साथियोंका, जिन्होंने माताजीकी एकाध वार खोज-खबर तो ली! पर वे सब स्वयं अत्यन्त साधनहीन और व्यस्त रहे हैं। अतएव माताजीके जीवनके पिछले ग्यारह वर्ष घोर संकटमें ही बीते हैं और यह बात हम सबके लिए अत्यन्त लज्जाजनक है।

पर दूसरोंको दोष न देकर हम स्वयं अपनेको ही अपराधी मानते हैं। यदि हम वैशम्पायनजीका लेख पढ़नेके बाद तुरन्त भाबरा चले गये होते, तो शायद कुछ-न-कुछ सेवा उनकी हो ही जाती। पर हम सोचते-विचारते ही रहे और यह आवश्यक कर्त्तव्य हमसे न बन पड़ा।

माताजीके दर्शन करते समय हमें ख़याल आया कि आज भी देशमें

सैकड़ों शहीदोंके निराश्रित कुटुम्ब सहानुभूतिके दो शब्दोंके भूखे हैं। आज भी वे प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कोई कृतज्ञतापूर्ण हृदयसे दो-चार बातें उनके स्वर्गीय प्राणीके विषयमें सुनावे, उन्हें कुछ सान्त्वना दे, उनकी कुछ सुने, उन्हें आँसू बहानेका कुछ मौक़ा दे।

माताजी अपने बच्चे चन्द्रशेखरकी बातें किसीको सुनाना चाहती थीं--अमर शहीद आज़ादको तो वे तब भी नहीं समझ सकी थीं, आज भी नहीं समझ पातीं। वे तो उसी चन्द्रशेखरको जानती हैं, जो उनके पेटमें नौ महीने रहा था, जो बर्फ़ीका बड़ा प्रेमी था, जो उनसे झगड़-झगड़कर पैसा लिया करता था और जो पिताजीसे (तिवारीजीसे) बोलता भी न था।

माताजी लड़कियोंको अपनी बातें सुनातीं और आज़ादका ज़िक्र करते ही उनका गला भर आता और वे फूट-फूटकर रोने लगतीं। माताजीने कहा--"बेटा चन्द्रशेखर जब पैदा हुआ था, तब कमज़ोर-सा था। हमारे यहाँ गाय-भैंस तो थीं, पर वे दूध बहुत थोड़ा देती थीं, इसलिए दूध हम घीके लिए जमा देती थीं और थोड़े-से दूधमें बहुत-सा साबूदाना मिलाकर खीर बना देती थीं और दिनमें कई बार वही खीर बच्चे (चन्द्रशेखर) को दिया करती थीं। ज़्यादा दूध हमारे यहाँ होता ही न था, पर बच्चा साबू-दाना खा-खाकर ही खूब मोटा-ताज़ा बन गया। पास-पड़ोसकी स्त्रियाँ कहने लगीं--"बच्चा तो बहुत सुन्दर लगता है।" कहीं उनकी नज़र न लग जाय; इसलिए चन्द्रशेखरके काजल लगाकर उसके माथेपर डिठौना लगा दिया करती थी। बच्चा खूब तन्दुरुस्त हो गया था। हाय! क्या मैंने उसे इतनी फ़िकिरसे इसलिए पाला-पोसा था कि वह किसी दिन गोलीसे मारा जाय!" इतना कहते-कहते माताजीका गला भर आया और फिर उनके आँसू रुकते ही न थे! लड़कियाँ भी विह्वल हो गईं! उन आँसुओं-को पोंछनेकी शक्ति भला किसमें है?

फिर माताजी सुनाने लगीं--"चन्द्रशेखर अपने पिताजीसे ज़्यादा

नहीं बोलता था। जो-कुछ उसे लेना होता, मुझसे ही माँग लेता था, और मैं भी उसके पिताजीके पैसोंकी चोरी करके उसे दे दिया करती थी। जब वह बाहर चला गया था तब भी चिट्ठी मेरे पास भिजवाकर रुपये मँगाया करता था और मैं तिवारीजीकी चोरीसे उसे दो-चार रुपये भेज ही देती थी! बच्चेके लिए मैंने बापकी चोरी की!" ऐसा कहते-कहते माताजी फिर रोने लगीं। जब चोरीका पता चल जाता, तो तिवारीजी नाराज़ होकर कहते—"तुम्हींने लड़केकी आदत ख़राब कर दी है।"

शहीद आज़ादके पूज्य पिता पंडित सीताराम तिवारी बग़ीचेकी रखवाली करते थे और उनका वेतन था पाँच रुपये महीना! पर वह बुड्ढा अजीब आनबानका आदमी था। क्या मजाल कि कोई आदमी एक कच्चा आम भी बाग़से ले जाय! ख़ुद तो कभी लेनेसे रहे! एक बार स्थानीय तहसीलदार साहबने बग़ीचेसे छाँटकर बढ़िया बैंगन अपने घरके लिए मँगाये, तो तिवारीजीने बग़ीचेकी ताली ही उन्हें वापिस भेज दी और कहला दिया कि यह बेईमानी हमसे न होगी! अच्छे बैंगन आप छाँट लेंगे, तो बाज़ारोंमें बाक़ीका भाव गिर जायगा। रियासतको घाटा रहेगा। मुझसे यह पाप न होगा। आप ही बग़ीचा सम्हालिये! तहसीलदार साहब घबरा गये। उन्होंने ताली तिवारीजीको लौटा दी।

मास्टर रुद्रनारायणजीने यह घटना हमें सुनाई और कहा—"जब वह बुड्ढा बड़े स्वाभिमानसे कहता—'इस तिवारीने छदामके लिए भी किसीका अहसान नहीं लिया', तो उनका चेहरा गौरवकी अनुभूतिसे लाल हो जाता था।"

और जिस समय चन्द्रशेखर आज़ाद कहते थे—"पार्टीसे हमें कुल छै पैसे भोजनके लिए मिलते हैं। इतनेमें पेट नहीं भरता, पर क्या किया जाय? ज्यादा पैसे हमारे पास हैं ही नहीं। हमारे कुछ साथी डबलरोटी और मक्खन क्यों खाना चाहते हैं, समझमें नहीं आता!" उस समय

तिवारीजीकी स्वाभिमानी आत्मा ही उनके आत्मज आज़ादमें बोलती थी।

हमारे निकटस्थ वनके रक्षक भगवानदास (मिठईं) को आज़ादके साथ ओरछेके जंगलमें भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मिठईंने माताजीसे कहा—"माताजी आपकी भेजी हुई बर्फ़ी हमने भी खाई थी। उसमें इलायची पड़ी थी।"

सुनते ही माताजीने कहा—"हाँ, हमारे बच्चेको बर्फ़ी अच्छी लगती थी और जब वह भाबरा आया था तब हमने बर्फ़ी बनाकर उसको दी थी। उसके बाद बच्चेको फिर नहीं देखा। वही आख़िरी मिलन था।"

माताजीकी अश्रु-धारा फिर बहने लगी। आज़ादकी जीवित अवस्थामें जब मास्टर रुद्रनारायणजी भाबरा गये थे, तो चलते समय माताजीने ज़बरदस्ती एक रुपया उनकी लड़कीके लिए दिया था और एक अठन्नी यह कहकर दी थी कि "इसकी बर्फ़ी लेकर बेटा चन्द्रशेखरको खिला देना। मेरे बच्चेको बर्फ़ी बहुत भाती है!"

आज़ादने भारतकी स्वाधीनताके लिए क्या-क्या वीरतापूर्ण कार्य किये, इसका पता माताजीको अभी तक नहीं है। कोई आज़ादकी बातें करता है, तो माताजी चुप-छिपकर उसे सुन लेती हैं और फिर बीमार पड़ जाती हैं! उनके हृदयके घाव ताज़े हो जाते हैं, उन्हें ज्वर हो आता है और वे खाना-पीना छोड़ देती हैं। यही नहीं, वे कुछ विक्षिप्त भी हो जाती हैं। ऐसी हालतमें वे यह ख़याल करने लगती हैं कि आज़ाद जिन्दा है और जान-बूझकर हमें तंग कर रहा है, मिलने नहीं आता! आज़ादकी बाल्यावस्थाकी झलक उनके नेत्रोंमें ('नेत्र'में कहना चाहिए, क्योंकि माताजी आज़ादके लिए सिर पटक-पटककर अपनी एक आँख खो चुकी हैं।) अब भी विद्यमान है, जब वह एक ओरसे पीछेसे आकर कन्धा पकड़कर 'ता' किया करता था और फिर दूसरी ओरसे कन्धा पकड़कर 'ता' किया करता था!

माताजी कहती हैं—"सब जगह देख आई, चन्द्रशेखर नहीं मिला। सातार नदीके किनारे नहीं मिला। ओरछामें नहीं मिला। त्रिवेणीपर नहीं मिला। मुझे आशा लगी थी कि वह कहीं-न-कहींसे निकलकर आ जायगा, पर जब मैं अलफ़्रेड-पार्कमें गई और वहाँ मुझे वह जगह बताई गई, जहाँ मेरा बच्चा गोलियोंसे मारा गया था, तब मेरी यह आशा भी टूट गई कि बच्चा कहीं मिल जायगा।"

माताजीका स्वास्थ्य दिनों-दिन बिगड़ रहा है। बची हुई आँखमें मोतियाबिन्द हो रहा है। साल-भर चल जायें, तो चल जायें! ग़नीमत यह है कि अभी-अभी संयुक्त-प्रान्तीय तथा मध्य-भारतीय सरकारोंने २५-२५ रुपये महीनेकी पेन्शन कर दी है और इस प्रकार छैसौ रुपये दान करनेका पुण्य लूट लिया है। पर दुर्भाग्यकी बात यह है कि अठारह वर्ष भूखों मरनेके बाद जब यह पेंशन आई है, तो माताजीकी भूख जाती रही है! वह पहलेसे तिहाई-चौथाई रह गई है और बूढ़े आदमीकी भूखका घटना अन्तिम दिनोंके आगमनकी सूचना है।

माताजीके भोलेपनकी हद नहीं। उनकी बस दो इच्छाएँ बाक़ी है—एक तो वे किसी लड़केके विवाहमें 'बन्ना' गाना चाहती हैं और दूसरे द्वारिकाजीके दर्शन करना चाहती हैं! यह बात ध्यान देने योग्य है कि आज़ादका बड़ा भाई जो पोस्टमैन था, इक्कीस वर्षकी उम्रमें जाता रहा था। माताजी कहती थीं—"मैं उसका विवाह करनेके लिए उन्नाव जानेवाली थी।" माताजी 'बन्ना' नहीं गा सकीं। चार बच्चोंको और अन्तमें चन्द्रशेखरको खोकर माताजीकी गोद तो बिल्कुल सूनी हो गई, पर वात्सल्यका स्रोत जहाँका-तहाँ बना रहा। वह नहीं सूखा। माताजीके मुखसे कभी-कभी बड़े मर्मभेदी वाक्य निकल पड़ते हैं—"बेटा! लोहा भट्टीमें जल जाता है, पत्थर भी टूट-टूटकर राख बन जाता है, पर मेरा जी तो देखो कि वह पत्थर और लोहेसे भी कड़ा है, अठारह-अठारह वर्षसे भट्टीमें जल रहा है और अभी तक नहीं टूटा।"

चलने समय माताजीने तीनों लड़कियोंको 'एक-एक रुपया दिया। उहोंने कहा—"माताजी, एक ही रुपयेमेंसे हम तीनों बाँट लेंगी।" पर माताजी बोलीं—"तुम हमारी बिटिया नहीं हो? बोलो!" लड़कियोंने कहा—"तुम्हारी बिटिया हैं।" माताजीने कहा—"तो फिर हमारा हुकुम मानो। अपने मनकी मिठाई मँगाके खा लेना।" इस तर्कका उत्तर भला क्या हो सकता था? मिठईको जब माताजीने चवन्नी दी तो उसने भी मना किया। माताजीने तुरन्त कहा—"तुम हमारे बेटे नहीं हो?" चवन्नी लेनी पड़ी।

चलते वक़्त मास्टर रुद्रनारायणजी बोले—"चौबेजी; एक काम तुम करा दो, तो माताजीको कुछ सन्तोष हो सकता है। भाबरामें, जहाँ आज़ादका जन्म हुआ था, कोई स्मारक बनवा दो—एक कमरा और बरामदा ही सही और आज़ादके कार्यक्षेत्र झाँसीमें या अलफ़्रेड-पार्क प्रयागमें उनकी एक मूर्ति।"

मास्टरजी स्वयं अत्युत्तम चित्रकार तथा श्रेष्ठ मूर्तिकार भी है। मैंने कहा—"मास्टरजी, किसे इतनी फ़िक्र है कि माताजीके अन्तिम दिनोंमें उन्हें संतोष दें? हाँ, श्री जवाहरलालजीने ढाई सौ रुपये माताजी-के नाम भेजे हैं और भविष्यमें भी प्रबन्ध करनेका वचन दिया है, पर ऐसी सहृदयता तथा कर्त्तव्यशीलता क्या हमारे अन्य नेताओं अथवा धनाढ्योंमें भी है? 'इंडिया रिपब्लिक' बनने जा रही है, पर इंडियन रिपब्लिकन आर्मीके संचालक चन्द्रशेखर आज़ादको लोग भूल गये हैं! और फिर इधर कोनेमें पड़े हुए पत्रकारकी बात सुनेगा कौन?"

मोटर तैयार थी, माताजी चल दीं। आँखोंके सामने आज़ादका और उनके माता-पिताका जीवन चल-चित्रकी भाँति एक साथ घूम गया।

आज़ादका साबूदाना खाना। माथेपर वह डिठौना। बर्फ़ीका प्रेम पिताजीका अक्खड़पन। माताजीकी कोमलता। चन्द्रशेखरका घरसे

भागना। काशी पहुँचना। जेलमें बेतोंकी सज़ा। आज़ादकी वह भीष्म-प्रतिज्ञा : 'सरकार मुझे ज़िन्दा न पकड़ सकेगी।'

आज़ादका जवाहरलालजीसे मिलन और उसके बादकी वे सब घटनाएँ, जो भारतीय स्वाधीनता-संग्रामका अध्याय ही बन चुकी हैं।

और अलफ़्रेड-पार्कमें माताजीका वह करुण विलाप!

आज़ाद फ़रवरी १९३१ में शहीद हुए और तबसे १८ वर्षतक हम लोगों द्वारा माताजीकी वह घोर उपेक्षा!

क्या कोई कृत्रिम सिनेमा इस सजीव चित्रका कभी मुक़ाबला करेगा?

जुलाई १९५०]

सन् १९५१ की प्रकाशित पुस्तकें

भारतीय ज्ञानपीठ काशी